अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ सं.
	खंड -1 पूर्व मध्यकालीन भारत	
	इकाई-1 पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति	2-16
	इकाई-2 सामाजिक स्थिति	17-27
	इकाई-2 आर्थिक स्थिति	
	इकाई-3 सांस्कृतिक स्थिति	
	खंड -2 दक्षिण भारतीय साम्राज्य	
	इकाई-1 राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था	
	इकाई-2 चोल साम्राज्य (विशेष संदर्भ– स्थानीय प्रशासन)	28-46
	इकाई-3 काकतीय साम्राज्य	
	इकाई-4 विजयनगर और बहमनी साम्राज्य	
	खंड -3 उत्तर भारत में मुसलमानों का आगमन	
	इकाई-1 भारत पर अरबों का आक्रमण	47-60
	इकाई-2 मुहम्मद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमण	61-79
	इकाई-3 राजपूतों की पराजय के कारण	80-92
	इकाई-4 गुलाम वंश की स्थापना	
	खंड -4 सल्तनत काल	
	इकाई-1 खिलजी, तुगलक और लोदी वंश	
	इकाई-2 सल्तनतकालीन सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था व सांस्कृतिक जीवन	
	इकाई-3 भक्ति आंदोलन	93-107
	इकाई-4 सूफी आंदोलन	108-122

खंड – 1 पूर्व मध्यकालीन भारत

इकाई – 1 पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

1.1.1 उद्देश्य
1.1.2 प्रस्तावना
1.1.3 राजपूत शब्द की प्राचीनता व अर्थ
1.1.4 गुर्जर-प्रतीहार वंश
1.1.5 परमार वंश
1.1.6 चंदेल वंश
1.1.7 कलचुरि वंश
1.1.8 पाल वंश
1.1.9 सेन वंश
1.1.10 गहड़वाल वंश
1.1.11 चाहमान वंश
1.1.12 सोलंकी अथवा चैलुक्य वंश
1.1.13 सारांश
1.1.14 बोध प्रश्न
1.1.14.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
1.1.14.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
1.1.15 संदर्भग्रंथ सूची

1.1.1 उद्देश्य

648 ई. में पुष्यभूति राजवंश की समाप्ति के बाद उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई। इसका प्रमुख कारण यह था कि हर्षवर्धन का उत्तराधिकारी इतना योग्य नहीं था कि वह अपने बाहुबल और कूटनीतिज्ञता से एक बड़े साम्राज्य को सुरक्षित रख पाता अतः राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर हर्ष के अधीनस्थ सभी क्षेत्रों के शासक स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। हर्षकालीन स्वतंत्र राज्यों ने भी अपने विस्तार की योजना क्रियान्वित की। राजपूताना तथा पश्चिमी भारत में कई राजवंश सत्ता के प्रमुख केन्द्र बन गये। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो गया तथा देश के विभिन्न भागों पर अलग-अलग राजवंशों का शासक स्थापित हो गया। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति की विवेचना करना है।

1.1.2 प्रस्तावना

गुप्तकाल से चली आ रही भारतवर्ष की राजनीतिक एकता हर्ष की मृत्यु के पश्चात छिन्न-भिन्न हो गई तथा उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। हर्षवर्धन की मृत्यु से लेकर मुस्लिम विजय तक का भारतीय इतिहास राजपूतों की प्रभुता के कारण राजपूत युग (647-1200 ई.) के नाम से

बोधित है। प्रस्तुत इकाई में पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति को विस्तृत रूप से रेखांकित करना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में पाठ का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जावेगी।

1.1.3 राजपूत शब्द की प्राचीनता व अर्थ

'राजपूत' प्राचीन भारतीय इतिहास में एक नवीन शब्द है। जिसका उल्लेख सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी में मिलता है। 'राजपूत' शब्द संस्कृत भाषा के 'राजपुत्र' शब्द का अपभ्रंश है, जो प्राचीन भारत में बहुत पहले से प्रचलित था, किन्तु 'राजपूत' शब्द का प्रयोग सातवीं शताब्दी से पूर्व न होने के कारण इतिहासकारों में इसके अर्थ के विषय में काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वान् 'राजपूत' शब्द का प्रयोग क्षत्रिय सामंतों की अनैतिक या अवैध संतानों के लिए किया गया मानते हैं तथा कुछ विद्वानों के अनुसार राजपूत शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी आक्रमणकारियों की संतान थे, जिन्हें अग्नि द्वारा शुद्ध करके भारतीय समाज में मिला लिया गया था।

राजपूतों की उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न मतों का विवेचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात यद्यपि निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है, तथापि अधिकांश विद्वानों के मत तथा उनके द्वारा अपने मतों के समर्थन में दिये गये तर्कों से ऐसा विदित होता है कि राजपूत संभवतः वैदिककालीन क्षत्रियों की ही संतान थे।

प्रमुख राजपूत-वंश

पूर्व मध्यकाल में भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई और देश के विभिन्न भागों में सामंतों द्वारा छोटे-छोटे राजपूत-राज्यों की स्थापना की गई। प्रमुख राजपूत वंश निम्नलिखित थे-

1.1.4 गुर्जर-प्रतीहार वंश

वंशावली

(1) नागभट्ट प्रथम, (2) कुकस्थ,
(3) देवराज, (4) वत्सराज (लगभग 775-800 ई.),
(5) नागभट्ट द्वितीय (लगभग 800-833 ई.), (6) रामभद्र (लगभग 833-836 ई.),
(7) मिहिरभोज (लगभग 836-885 ई.), (8) महेन्द्रपाल प्रथम (लगभग 885-910 ई.),
(9) भोज द्वितीय (910-912 ई.), (10) महीपाल प्रथम (लगभग 912-945 ई.),
(11) महेन्द्रपाल द्वितीय (लगभग 945-948 ई.), (12) देवपाल (लगभग 948-950 ई.),
(13) विनायकपाल द्वितीय, (14) महीपाल द्वितीय,
(15) विजयपाल द्वितीय, (16) राज्यपाल,
(17) त्रिलोचनपाल, (18) यशःपाल।

प्रमुख शासक: वत्सराज, नागभट्ट द्वितीय, मिहिरभोज, महेन्द्रपाल प्रथम और महीपाल प्रथम।

वत्सराज

यह इस वंश का चैथा शक्तिशाली नरेश था। राजस्थान में भट्टी जाति के नरेश तथा गौड़ राजा धर्मपाल को उसने पराजित किया। पर वह राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव द्वारा पराजित हुआ। इसी के समय से मध्यदेश या कन्नौज राज्य पर अधिकार करने के लिये प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों और पालों में होड़ प्रारंभ हो गई थी।

नागभट्ट द्वितीय

वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय राजा बना। उसने सन् 805 से 833 तक शासन किया। वह बड़ा प्रतापी, वीर, साहसी और महत्वाकांक्षी नरेश था। उसने राष्ट्रकूट राजा से अपने पिता की पराजय का बदला लेने के लिये राष्ट्रकूट नरेश गोविंद तृतीय पर आक्रमण किया, परंतु उसे सफलता नहीं मिली और वह पराजित हुआ, परंतु बाद में उसने जैसा कि वानीदिन्दोरी व राधनपुर के अभिलेखों से विदित होता है, अपनी शक्ति को दृढ़ कर लिया, बंगाल के राजा धर्मपाल को मुंगेर के पास हराया, कन्नौज पर आक्रमण कर वहाँ के राजा चक्रायुध को पराजित किया और अपनी राजधानी मालवा में अवन्ती (उज्जैन) से हटाकर कन्नौज ले गया। जैसा ग्वालियर अभिलेख से विदित होता है। उसने उत्तरी सौराष्ट्र, मालवा, पूर्वोत्तरी राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, कौशाम्बी और तरूष्क (सिंध के अरब) पर विजय प्राप्त की। इससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। उसने अपनी सफलताओं से एक प्रांतीय राज्य को प्रथम श्रेणी का सैनिक और राजनीतिक शक्ति का राज्य बना दिया और एक स्थिर साम्राज्य स्थापित किया।

मिहिरभोज

रामभद्र के बाद उसका पुत्र मिहिरभोज कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। उसने प्रतिहारों के लुप्त वैभव को पुनः प्राप्त किया और उसके गौरव व प्रतिष्ठा में वृद्धि की। उसने शीघ्र ही संपूर्ण मध्यदेश पर अपना आधिपत्य कर लिया। राजस्थान और पूर्वी पंजाब भी उसके राज्य में सम्मिलित थे। उसने पूर्व की ओर अपने राज्य का विस्तार करने का प्रयास किया पर बंगाल के पालवंशीय राजा देवपाल द्वारा पराजित हुआ। दक्षिण में भी उसने अपना विस्तार करने का प्रयत्न किया, राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव द्वितीय और कृष्ण द्वितीय से उसके अनिर्णायक युद्ध हुए। फलतः नर्मदा नदी तक ही उसका राज्य विस्तृत रहा। डॉ. आर. सी. मजूमदार के मतानुसार मिहिरभोज एक सुयोग्य और सफल शासक था। वह अपने राज्य में शांति बनाये रखने और बाहरी आक्रमणों से उसे सुरक्षित रखने में समर्थ था। मुस्लिम आक्रमणों के सामने वह रक्षा की दीवार की भाँति था। वह कट्टर हिंदू था और इस्लाम का प्रबल विरोधी था। अरब यात्री सुलेमान ने, जो उसके शासन काल में भारत आया था, उसके प्रशासन, राज्य के व्यापार व समृद्धि और अश्वारोही सैनिक बल की बड़ी प्रशंसा की है।

महेन्द्रपाल प्रथम

अपने पिता मिहिरभोज की तरह वह भी सबल और महत्वाकांक्षी नरेश था। उसने मगध, उत्तरी बिहार और उत्तरी बंगाल को जीतकर अपने राज्यों में सम्मिलित कर लिया। पश्चिम में सौराष्ट्र और उत्तर में करनाल तक उसकी सीमा थी। वह अत्यंत उदार विद्यानुरागी था। उसके राज्याश्रय में प्रसिद्ध कवि, नाटककार और रीतिकार राजशेखर रहता था, जिसने कर्पूर-मंजरी, बालरामायण, बालभारत और काव्य-मीमांसा ग्रंथों की रचना की।

महिपाल प्रथम

महेन्द्रपाल के बाद उसका पुत्र भोज द्वितीय नरेश हुआ। पर उसके बन्धु महिपाल ने उसे हटा कर स्वयं राजसत्ता अपने अधिकार में कर ली। उसे दीर्घकाल तक अशांति और शत्रुओं का सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट राजा इन्द्र द्वितीय ने उस पर आक्रमण किया और कन्नौज तथा प्रयाग तक के क्षेत्र में उसने लूट-पाट की। बंगाल के पाल नरेश ने भी इस स्थिति का लाभ उठाकर पश्चिम में अपने राज्य का विस्तार सोन नदी के पूर्वी तट तक कर लिया। अपने शासन के अन्तिम काल में महिपाल को राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय से भी संघर्ष करना पड़ा। इतनी असफलताओं के होने पर भी महीपाल ने प्रतिहार साम्राज्य की उसके प्रतिद्वन्दियों और शत्रुओं से रक्षा की तथा उसकी शक्ति और गौरव को बनाये रखा।

1.1.5 परमार वंश

वंशावली

(1) उपेन्द्रराज (790-817 ई.), (2) वैरिसिंह प्रथम (814-842 ई.),
(3) सीअक प्रथम (844-893 ई.), (4) वाक्पति प्रथम (894-920 ई.),
(5) वैरिसिंह द्वितीय (921-945 ई.), (6) सीअक द्वितीय (945-972 ई.),
(7) वाक्पति द्वितीय - (मुंजराज) (973-996 ई.), (8) सिंधुराज (996-1010 ई.),
(9) भोज परमार (1010-1055 ई.), (10) जयसिंह प्रथम (1055-1070 ई.),
(11) उदयादित्य (1070-1086 ई.) (12) लक्ष्मदेव (1086-1094 ई.),
(13) नरवर्मा (1094-1133 ई.), (14) यशोवर्मा (1134-1142 ई.),
(15) जयवर्मन्, (16) विंध्यवर्मन्,
(17) सुभटवर्मन्।

प्रमुख शासक: वाक्पति द्वितीय (मुंजराज) तथा भोज।

मुंज

श्री हर्ष के पश्चात् उसका पुत्र वाक्पति मुंज सिंहासन पर बैठा। परमारों की शक्ति का उत्कर्ष इसके शासनकाल में हुआ। वह बड़ा वीर, साहसी, प्रतापी और साम्राज्यवादी नरेश था। उसने त्रिपुरी नरेश युवराज द्वितीय को परास्त किया तथा गुजरात, कर्णाटक, चोल और केरल के राजाओं को युद्ध में पराजित किया और कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप द्वितीय को छः बार हराया। सातवीं बार जब उसने गोदावरी नदी को पार करके तैलप पर आक्रमण किया तब तैलप ने उसे पराजित कर दिया और बंदी बना लिया तथा बाद में उसका वध कर दिया। मुंज महान योद्धा और विजेता होने के अतिरिक्त योग्य शासक, विद्वान और विद्यानुरागी भी था। वह स्वयं उच्च-कोटि का कवि तथा विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसकी राजसभा में परिमल गुप्त, धनिक, धनंजय, हलायुध भट्ट, अमितगति आदि प्रसिद्ध विद्वान, कवि और लेखक रहते थे। मुंज स्वयं एक निर्माता भी था। उसने भवनों, सरोवरों और मंदिरों का निर्माण किया।

भोज

परमार वंश का सबसे प्रतापी और सर्व प्रसिद्ध नरेश भोज था। वह बड़ा महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था। अपने काका वाक्पति मुंज की नृशंस हत्या का बदला लेने के लिये उसने कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य चतुर्थ पर आक्रमण कर उसे बुरी तरह परास्त कर दिया। इसके बाद उसने कलचुरि राजा गांगेयदेव को हराया, उत्तर में प्रतिहारों को परास्त किया, कन्नौज राज्य के एक अंग और बिहार के पश्चिमी भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और लाट (गुजरात) के सोलंकी नरेशों पर उसने निरंतर सफल आक्रमण किये। भोज के सेनापति कुलचंद्र ने सोलंकी राज्य की राजधानी पाटन को भी लूटा। सौराष्ट्र व गुजरात में तुर्कों के आक्रमणों का उसने सामना किया और उन्हें खदेड़ दिया। उसके निरंतर आक्रमणों और विस्तारवादी नीति से अनेक राजा उससे अप्रसन्न हो गए। फलतः विद्याधर चंदेल ने उसे परास्त किया, गुजरात के सोलंकी नरेश और त्रिपुरी के कलचुरि नरेश के सैनिक संगठन का भोज को सामना करना पड़ा। उस पर दोनों ओर से आक्रमण हुए। वह पराजित हुआ और युद्ध क्षेत्र में वीर गति को प्राप्त हुआ। राजा भोज एक महान् विजेता और योग्य शासक ही नहीं था, अपितु वह स्वयं उच्चकोटि का विद्वान, कवि और लेखक था। वह विद्यानुरागी था तथा विद्वानों और कवियों का उदार आश्रयदाता भी था। भोज की उपाधि कविराज थी। वह अपने पांडित्य विद्यानुराग, साहित्य और कला के प्रश्रय योग्य

शासन व्यवस्था, आदर्श न्याय और दानशीलता के लिये लोक-प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि, वह कवियों को एक-एक श्लोक की रचना के लिये एक-एक लाख मुद्राएँ दान में देता था। इतिहास और साहित्य का वह सर्वाधिक प्रबुद्ध शासक था। उसने साहित्य, व्याकरण, गणित, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, धर्म, दर्शन, प्रशासन विषय आदि पर अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें सरस्वती कण्ठाभरण, शब्दानुशासन, समरांगण सूत्राधर, युक्ति-कल्पद्रुम, आयुर्वेद सर्वस्व, भोज प्रबंध आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। उसकी राज्यसभा अनेक विद्वानों, कवियों और लेखकों से सुशोभित थी। भोज एक महान निर्माता भी था। उसने धार को भवनों और सरोवरों से सुसज्जित किया। उसने एक महान् कृत्रिम झील बनवाई जो आजकल भोपाल ताल के नाम से प्रख्यात है। उसने अपनी राजधानी धारा (धारा) में सरस्वती मंदिर और संस्कृत के महाविद्यालय का निर्माण किया। ये बाद में भोजशाला के नाम प्रसिद्ध हो गये।

1.1.6 चंदेल वंश

वंशावली

(1) नन्नुक (831-844 ई.), (2) वाक्पति (844-870 ई.),
(3) जयशक्ति (4) विजयशक्ति (870-900 ई.),
(5) राहिल (900-915 ई.), (6) हर्ष (915-930 ई.),
(7) यशोवर्मा (930-950 ई.), (8) धंग (950-1002 ई.),
(9) गण्ड (1003-1017 ई.), (10) विद्याधर (1018-1029 ई.),
(11)विजयपाल (1030-1050 ई.), (12) देववर्मा (1050-1060 ई.),
(13) कीर्तिवर्मा (1060-1100 ई.), (14) सल्लक्षवर्मा (1100-1115 ई.),
(15) जयवर्मा (1115-1120 ई.), (16) पृथ्वीवर्मा (1120-1129 ई.),
(17) मदनवर्मा (1129-1163 ई.), (18) यशोवर्मा द्वितीय (1163-1165 ई.),
(19) परिमर्दिदेव (1165-1202 ई.), (20) त्रैलोक्यवर्मा (1203-1247 ई.),
(21) अन्य उत्तराधिकारी।

प्रमुख शासक: यशोवर्मा, धंग, विद्याधर और मदनवर्मा।

यशोवर्मा

प्रारंभिक चंदेल राजाओं में यशोवर्मन बड़ा शक्तिशाली तथा प्रतापी राजा हुआ। उसने मालवा, चेदि और महाकौशल को जीतकर अपना राज्य विस्तृत कर लिया। उसने कालिंजर को अपने अधिकार में कर लिया और महोबा को अपनी राजधानी बनाया। उसने प्रतिहारों के राजा देवपाल को बाध्य कर उससे विष्णु की मूर्ति खजुराहो मंदिर के लिये उपहार स्वरूप प्राप्त की।

धंग

यशोवर्मन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र धंग था। उसने उत्तर तथा दक्षिण के कई राज्यों पर विजय प्राप्त की। उसने प्रतिहारों से गोपाद्रि या ग्वालियर छीन लिया। उसने दक्षिण में चेदि तथा मालवा के राजाओं को परास्त कर अपने राज्य की सीमा बढ़ाई। उसने तुर्कों के विरूद्ध जयपाल की सैनिक सहायता भी की थी। उसने गंगा-यमुना के संगम में शिव का जप करते हुए जल समाधि ले ली थी।

विद्याधर

गण्ड के पश्चात् 1018 ई. में उसका पुत्र विद्याधर चंदेल साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। वह अपने पितामह धंग की भाँति शक्तिशाली और युद्धप्रिय सम्राट था। उसका काल चंदेल सत्ता के परमोत्कर्ष और सर्वाधिक गौरव का काल माना जाता है।

तुर्कों के आक्रमणों से डर कर प्रतीहार नरेश राज्यपाल 1018-1019 ई. में महमूद से लड़े बिना भाग जाने के कारण विद्याधर, राज्यपाल पर अत्यधिक क्रोधित हुआ। विद्याधर ने राज्यपाल को दण्डित करने के लिए उसके राज्य पर आक्रमण कर उसे परास्त कर मौत के घाट उतार दिया। इब्न-उल्-अतहर विद्याधर के बारे में लिखता है कि राज्यपाल को दण्डित करने से विद्याधर की राजनीतिक प्रतिष्ठा बढ़ गई और महमूद के वार्षिक आक्रमणों से त्रस्त राजा उसकी ओर देखने लगे।

अतः विद्याधर ने अपनी विशाल सेना को संगठित और शक्तिशाली बनाकर उसके आक्रमण की चुनौतियों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला करने का निश्चय किया। महमूद को अपने भारतीय सैनिक अभियानमें विद्याधर एक ऐसी चट्टान के रूप में मिला जिसे वह तोड़ न सका।

मदनवर्मन

पृथ्वीराज के बाद उसका पुत्र मदनवर्मा राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह अपने वंश का एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसके समय के पन्द्रह अभिलेख तथा सोने एवं चाँदी के सिक्के उपलब्ध हुए हैं जो उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि के द्योतक हैं। मदनवर्मा विद्याधर के बाद अपने वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा प्रमाणित हुआ जिसने अपने समकालीन चैलुक्यराज जयसिंह सिद्धराज और गोविंद चंद्र गहड़वाल जैसे महत्वाकांक्षी राजाओं को अपनी ओर आँख उठाने का कोई अवसर नहीं दिया। मदनवर्मा अपने समय का एक महान् सम्राट सिद्ध हुआ। उसने चंदेल वंश की प्रतिष्ठा को पुनस्थापित करने के प्रयत्न किये जिसमें उसे सफलता भी मिली।

1.1.7 कलचुरि वंश

वंशावली

(1) कोकल्ल प्रथम (850-885 ई.), (2) शंकरगण द्वितीय (890-910 ई.),
(3) युवराज प्रथम (915-945 ई.), (4) लक्ष्मणराज द्वितीय (945-970 ई.),
(5) शंकरगण तृतीय (970-980 ई.), (6) युवराज द्वितीय (980-990 ई.),
(7) कोकल्ल द्वितीय (990-1015 ई.), (8) गांगेयदेव (1015-1040 ई.),
(9) लक्ष्मीकर्ण (1041-1072 ई.), (10) यशःकर्ण (1073-1123 ई.),
(11) गयाकर्ण (1123-1151 ई.), (12) नरसिंह (1151-1167 ई.),
(13) जयसिंह (1167-1180 ई.), (14) विजयसिंह (1180-1212 ई.)।

प्रमुख शासक: गांगेयदेव तथा लक्ष्मीकर्ण।

गांगेयदेव

कोकल्ल द्वितीय के पश्चात् उसका शक्तिशाली पुत्र गांगेयदेव सिंहासनारूढ़ हुआ। यह अत्यधिक महत्वाकांक्षी एवं प्रतापी शासक था। वह अपने वंश के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं योग्य शासकों में से एक था। अपनी विजयों से उसने अपने वंश के गौरव में आशातीत वृद्धि की। अपने शासन काल के प्रारंभ में उसने संभवतः चंदेल शासक विद्याधर की आधीनता स्वीकारी थी, परंतु शीघ्र ही वह स्वतंत्र हो गया। सर्वप्रथम गांगेयदेव ने मालवा के परमार नरेश भोज एवं दक्षिण के चोल शासक राजेन्द्र चोल से मैत्री कर कुंतल के चालुक्य वंशी शासक जयसिंह पर आक्रमण किया। तत्पश्चात् उसने दक्षिण कोसल के शासक

सोमवंशी महाशिवगुप्त पर आक्रमण किया। इन दोनों आक्रमणों के पश्चात् उसने तुम्माण के कलचुरि शासक कमलराज की सहायता से उड़ीसा के शासक शुभंकर द्वितीय पर आक्रमण पर उसे पराजित किया। इन तीनों विजयों के उपलक्ष्य में गांगेयदेव ने त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि धारण की। गांगेयदेव ने चंदेलों की सत्ता को अस्वीकार कर उत्तर भारत में काँगड़ा तक अपने राज्य का विस्तार किया। प्रतिहारों के पतन के पश्चात् गांगेयदेव ने प्रयाग और वाराणसी को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस क्षेत्र पर अधिकार के पश्चात् उसने मगध पर विजय प्राप्त की और पालवंशीय जयपाल को परास्त किया। इन क्षेत्रों पर विजय अभियान के उपलक्ष्य में गांगेयदेव ने महाराजाधिराज, परमेश्वर एवं विक्रमादित्य जैसे विरुद धारण किये।

लक्ष्मीकर्ण

गांगेयदेव के पश्चात् कलचुरि राजसिंहासन का उत्तराधिकारी उसका यशस्वी पुत्र कर्ण1041 ई. में सिंहासनारूढ़ हुआ। वास्तव में कर्ण एक महान विजेता, कुशल शासक एवं कूटनीतिज्ञ सम्राट भी था। यह कलचुरि वंश का सबसे प्रतापी सम्राट हुआ। उसके शासन काल के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। अमरकण्टक (शहडोल) में उसके द्वारा बनवाये गये मंदिर आज भी विद्यमान हैं।

रासमाला नामक ग्रंथ में 136 राजाओं द्वारा कर्ण की सेवा करने का उल्लेख मिलता है। वाराणसी अभिलेख में उल्लिखित है कि 'पृथ्वी पर कर्ण की तुलना' महाभारत के कर्ण के समान है। उसने अपने समकालीन राजाओं को पराजित किया एवं पैतृक साम्राज्य में आशातीत वृद्धि की।

रीवा से प्राप्त कलचुरि, सं. 800 के शिलालेख में कर्ण के शासनकाल के प्रारंभिक सात वर्षों के विजय अभियानों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उसने पूर्वी बंगाल के राजा गोविंद चंद्र व उसके उत्तराधिकारी को पराजित किया। प्रबोध चंद्रोदय नाटक में उल्लिखित है कि कर्ण ने बुंदेलखंड के चंदेल राजा को पराजित कर जेजाक-भुक्ति प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया।

उपरोक्त वर्णित सभी विजयों के फलस्वरूप कर्ण ने अपने समकालीन भारतीय शासकों के मध्य अपना अत्यंत ही गौरवपूर्ण स्थान स्थापित किया था। समकालीन शासकों को पराजित करके सामरिक दृष्टि से वह उच्चतम शिखर पर पहुँच गया।

1.1.8 पाल वंश

वंशावली

(1) गोपाल (वंश-संस्थापक) (लगभग 750-770 ई.), (2) धर्मपाल (लगभग 770-810 ई.),
(3) देवपाल (लगभग 810-850 ई.), (4) विग्रहपाल प्रथम - (ल. 850-854 ई.),
(5) नारायणपाल (लगभग 854-915 ई.), (6) राज्यपाल (लगभग 915-940 ई.),
(7) गोपाल द्वितीय (लगभग 940-960 ई.), (8) विग्रहपाल द्वितीय (लगभग 960-988 ई.),
(9) महीपाल प्रथम (लगभग 988-1038 ई.), (10) नयपाल (लगभग 1038-1055 ई.),
(11) विग्रहपाल तृतीय (लगभग 1055-1070 ई.), (12) महीपाल द्वितीय (ल. 1070-1075 ई.),

(13) रामपाल (लगभग 1075-1120 ई.), (14) कुमारपाल (लगभग 1120-1125 ई.),
(15) गोपाल तृतीय (लगभग 1125-1144 ई.), (16) मदनपाल
(17) गोविंदपाल

प्रमुख शासक: धर्मपाल, देवपाल और महीपाल।

धर्मपाल

गोपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र धर्मपाल था। वह बड़ा पराक्रमी, विजयी और धार्मिक था। धर्मपाल ने उत्तरी भारत की प्रभुता के लिये प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों से निरंतर संघर्ष किया। उसने कन्नौज के नरेश को हराकर चक्रायुध को कन्नौज का नरेश घोषित किया, किन्तु प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने बाद में चक्रायुध को हरा दिया। इस पर धर्मपाल ने नागभट्ट पर आक्रमण किया पर मुंगेर के पास उसे परास्त होना पड़ा। वह राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव से भी परास्त हुआ था। पराजित होने पर भी धर्मपाल तत्कालीन राजनीति पर कुछ समय के लिए छा गया था। वह धर्मपरायण नरेश और विद्या तथा कला का आश्रयदाता था। उसने बिहार में भागलपुर के समीप गंगा तट पर विक्रमशीला नामक एक महान बौद्ध विहार निर्मित किया जो थोड़े समय पश्चात् ही विक्रमशीला विश्वविद्यालय हो गया।

देवपाल

धर्मपाल के बाद उसका पुत्र देवपाल राजसिंहासन पर बैठा। वह पाल वंश का सर्वाधिक प्रतापी, साहसी, वीर और प्रसिद्ध शासक था। उसने कलिंग (उड़ीसा) और आसाम को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। उसने हूणों और गुजरात के राजाओं को भी परास्त किया तथा प्रतिहार नरेश मिहिरभोज की पूर्व में बढ़ती शक्ति को रोका। उसने एक विस्तृत प्रदेश पर राज्य किया और उसका राजनीतिक संबंध ब्रह्मा, सुमात्रा, जावा आदि देशों से था। वह बौद्ध मतावलम्बी था। उसने मुद्गिरि (मुंगेर) और नालंदा महाविहार को अत्यधिक दान दिया और अनेक बौद्ध चैत्य, विहार और संघाराम निर्मित किये। उसके शासनकाल में नालंदा और विक्रमशीला के महान् बौद्ध विहार विश्वविद्यालय के रूप में प्रसिद्ध और प्रगतिशील थे।

महीपाल

देवपाल के बाद नारायणपाल के शासनकाल में उसकी पराजयों से पाल शक्ति को गहरा आघात लगा, परंतु नारायणपाल के पश्चात् महिपाल के शासनकाल में पाल-सत्ता का पुनरूत्थान हुआ। यद्यपि वह काँची के चोल राजा राजेन्द्र द्वारा और चेदि नरेश गांगेयदेव द्वारा पराजित अवश्य हुआ था, फिर भी उसने बंगाल और बिहार के खोये हुये प्रदेश पुनः अपने अधिकार में कर लिये। वह बौद्ध था और उसने सारनाथ में कई चैत्य निर्मित किये तथा वहाँ मूलगंध कुटी, धर्मराजिका स्तूप और धर्मचक्र का जीर्णोद्धार करवाया एवं बोध गया में दो मंदिर बनवाये।

1.1.9 सेन वंश

वंशावली

(1) सामंतसेन, (2) हेमन्तसेन,
(3) विजयसेन, (4) वल्लालसेन (लगभग 1159-1179 ई.),
(5) लक्ष्मणसेन (लगभग 1179-1205 ई.), (6) विश्वरूपसेन,

(7) केशवसेन।

प्रमुख शासक: विजयसेन और लक्ष्मणसेन।

विजयसेन

रामपाल की मृत्यु के पश्चात् पाल वंश की अवनति प्रारम्भ हो गई जिसका लाभ उठाकर विजयसेन ने पूर्वी बंगाल और उत्तरीबंगाल के बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

सेन वंशी अभिलेखों के आधार पर विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में विजयसेन ने कलिंग के राजा अनंत वर्मा चोड़गंग से मित्रता स्थापित की, जो उस समय शक्तिशाली शासक था। विजयसेन के देवपाड़ा-अभिलेख से विदित है कि उसे नान्य, वीर, राघव और वर्धन नामक राजाओं के अतिरिक्त गौड़, कामरूप और कलिंग के शासकों से युद्ध करना पड़ा, जिसमें उसे विजय प्राप्त हुई।

विद्वानों के अनुसार देवपाड़ा-अभिलेख से विदित होता है कि संभवतः पाल शासक मदनपाल को पराजित कर उसने उत्तरी बंगाल में सेन राज्य की स्थापना की थी।

देवपाड़ा-अभिलेख से विदित है कि विजयसेन ने पदुमसरनामक तालाब के किनारे प्रद्युम्नेश्वर शिव का मंदिर बनवाया। साथ ही, उसने गौरवसूचक विरुद्ध 'परमेश्वर,' 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' एवं 'अरिराजवृषभशंकर' आदि धारण किये। विजयसेन शिव का उपासक था और श्रोत्रिय ब्राह्मण और निर्धनों को दान देता था। उसने जनहित के लिए अनेक कल्याणकारी कार्य किये। विजयसेन एक वीर और पराक्रमी राजा था, जिसने अपना संपूर्ण जीवन संघर्षों और युद्धों में व्यस्त रखा।

लक्ष्मणसेन

लक्ष्मणसेन बचपन से एक वीर और पराक्रमी योद्धा था और संभवतः 1179 ई. में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। वह सेने वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल के लगभग आठ अभिलेख बंगाल के विभिन्न भागों से उपलब्ध हुए हैं, जिनमें उनकी विजयों और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इन अभिलेखों से विदित होता है कि उसने 'अरिराजमदनशंकर' और 'गौड़ेश्वर' की उपाधियों के अतिरिक्त 'परमवैष्णव' की उपाधि भी धारण की थी, जिससे स्पष्ट होता है कि लक्ष्मणसेन ने अपने पिता और पितामह द्वारा मान्य शैव धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म अपना लिया था। उसके अभिलेखों की प्रमुख विशेषता यह है कि वे नारायण की स्तुति के साथ प्रारम्भ होते हैं।

लक्ष्मणसेन के पुत्र विश्वरूपसेन के मदनपाड़ा-अभिलेख से विदित होता है कि उसने पुरी, काशी और प्रयाग में विजयस्तंभों की स्थापना की। उसके प्रारंभिक अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि लक्ष्मणसेन ने संपूर्णगौड़, वंग और राढ़ा पर अधिकार कर लिया था। लक्ष्मणसेन के भोवल-अभिलेख और माधाइनगर-अभिलेखों के अनुसार उसने गौड़, कामरूप, काशी और कलिंग की विजयें कीं। अतः विजयसेन एक वीर और पराक्रमी राजा था, जिसने अपना जीवन संघर्षों और युद्धों में व्यस्त रखा। वह शिव का उपासक और दानशील सम्राट था जिसने जनहित के लिए अनेक कल्याणकारी कार्य किये।

1.1.10 गहड़वाल वंश

वंशावली

(1) यशोविग्रह (तिथि अज्ञात है),
(2) गोविंदचंद्र(तिथि अज्ञात है),
(3) चंद्रदेव (1089-1104 ई.),
(4) मदनलाल (1104-1114 ई.),
(5) गोविंदचंद्र(1114-1154 ई.),
(6) विजयचंद्र (1155-1169 ई.),

(7) जयचंद्र (1170-1194 ई.), (8) हरिश्चंद्र (तिथि अज्ञात हैं)

प्रमुख शासक: गोविंदचंद्रऔर जयचंद्र।

गोविंदचंद्र

चंद्रदेव का उत्तराधिकारी उसका पुत्र मदनपाल था और मदनपाल का उत्तराधिकारी गोविंदचंद्र हुआ। गोविंदचंद्रअपने वंश का सर्वाधिक योग्य सम्राट माना जाता है। वह बड़ा प्रतापी, वीर और योग्य शासक था। उसने अपनी वीरता और योग्यता का परिचय अपने युवराज काल में ही दे दिया था, जब उसने सन् 1109 में तुर्कों के आक्रमणों को विफल कर दिया था। उसने बंगाल के पाल राजा पर आक्रमण करके, मगध का पश्चिमी भाग विजय करके तथा मालवा का एक अंग भी जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिये। उसने गुजरात, काश्मीर और दक्षिण के चोल राजाओं से मैत्री संबंधस्थापित कर अपनी शक्ति दृढ़ कर ली। इस प्रकार वह दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ भी था। विजयी नरेश होने के साथ-साथ गोविंदचंद्र बड़ा दानी और विद्यानुरागी विद्वान था। वह कवियों और लेखकों का उदार संरक्षक भी था। उसने अपनी बौद्ध रानी कुमारदेवी की प्रार्थना पर सारनाथ में एक बौद्ध विहार निर्मित करवाया था। उसके एक मंत्री लक्ष्मीधर ने कानून और राजनीति पर 'कृत्य-कल्पतरू' नामक एक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की।

जयचंद्र

विजयचंद्र के बाद जयचंद्र कन्नौज का राजा बना। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि उसने देवगिरि के यादव तथा गुजरात के सोलंकी नरेश को पराजित किया और तुर्कों को भी हराया। अपनी इन विजयों के उपलक्ष्य में उसने एक राजसूय यज्ञ किया। यद्यपि पूर्व में उसने अपना राज्य गया और वाराणसी तक फैला दिया था, परंतु पश्चिम में दिल्ली और अजमेर के अधिपति पृथ्वीराज चैहान से उसकी शत्रुता थी क्योंकि उसकी पुत्री संयोगिता को उसके स्वयंवर के समय पृथ्वीराज अपहरण कर ले गया था। सन् 1193 में शहाबुद्दीन (मोहम्मद) गोरी ने पृथ्वीराज चैहान को तराइन के दूसरे युद्ध में परास्त कर, सन् 1194 में जयचंद्र पर आक्रमण कर दिया। कहा जाता है कि जयचंद्र ने गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था, किन्तु डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने अपनी रचना 'हिस्ट्री ऑफ कन्नौज' में संयोगिता का अपहरण और जयचंद्र द्वारा गोरी को आमंत्रित करना दोनों ही घटनाओं को मनगढ़ंत कथाएँ माना है। सन् 1194 में गोरी द्वारा जयचंद्र पराजित हुआ और मारा गया। इसके बाद गोरी ने कन्नौज और वाराणसी पर अधिकार कर उन्हें खूब लूटा। वह अपने साथ 1400 ऊँटों पर लूट का सोना, चाँदी तथा बहुमूल्य पदार्थों को लादकर गजनी लौट गया।

1.1.11 चाहमान वंश

वंशावली

(1) वासुदेव (वंश-संस्थापक 551 ई.), (2) सामंतराज,
(3) नरदेव, (4) अजयराज प्रथम - जयराज,
(5) विग्रहराज प्रथम, (6) चंद्रराज प्रथम,
(7) गोपेंद्रराज, (8) दुर्लभराज प्रथम,
(9) गूवक प्रथम, (10) चंद्रराज द्वितीय,
(11) गूवक द्वितीय, (12) चंदनराज,
(13) वाक्पतिराज प्रथम, (14) सिंहराज,
(15) विग्रहराज द्वितीय, (16) दुर्लभराज द्वितीय,

(17) गोविन्दराज द्वितीय, (18) वाक्पतिराज द्वितीय,
(19) वीर्यराम, (20) चामुण्डराज,
(21) दुर्लभराज तृतीय, (22) विग्रहराज तृतीय,
(23) पृथ्वीराज प्रथम, (24) अजयराज द्वितीय (1105-1130 ई.),
(25) अर्णोराज (1130-1150 ई.), (26) विग्रहराज चतुर्थ (1150 -1164 ई.),
(27) अपरगांगेय (1164 ई.), (28) पृथ्वीराज द्वितीय (1164-1169 ई.),
(29) सोमेश्वर (1169-1177 ई.), (30) पृथ्वीराज तृतीय (1178-1192 ई.),
(31) हरिराज (1198 ई.),

प्रमुख शासक: अजयराज, अर्णोराज विग्रहराज चतुर्थ और पृथ्वीराज तृतीय।

अजयराज

यह इस वंश का अन्य प्रतापी नरेश था जिसने बारहवीं सदी में शासन किया। सोमेश्वर के बिजोलिया-अभिलेख के अनुसार परमार-चाहमान सीमाओं पर अवंतिराज नरवर्मा (1094-1133 ई.) की सेनाओं से उसकी भयंकर लड़ाई हुई, जिसमें विजयश्री उसी के हाथों में रही। उसने तुर्कों के निरंतर आक्रमणों का प्रतिरोध किया, मालवा के परमार राजाओं से संघर्ष किया और अपने राज्य की सीमा की वृद्धि की। उसने अजयमेरू (अजमेर) नामक नगर स्थापित किया और इसे अपनी राजधानी बनाया। उसने इस नगर को राजप्रासादों, भवनों, और मंदिरों से अलंकृत किया।

अर्णोराज

अजयराज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अर्णोराज था। यह भी प्रसिद्ध नरेश था। उसने अजमेर के समीप अर्णोसागर झील और बाँध बनवाकर मुसलमानों के आक्रमणों से अपवित्र भूमि को पवित्र किया। इसी झील के तट पर पुष्कर तीर्थ बसाया गया। संभवतः सन्1150 के लगभग अर्णोराज और कुमारपाल में परस्पर युद्ध हुआ था।

विग्रहराज चतुर्थ

यह बड़ा प्रतापी और सफल शासक था। उसने बड़ी वीरता और साहस से मुसलमानों से संघर्ष किया और यमुना तथा सतलज नदी के बीच के प्रदेश को उनसे छीन लिया। उसने तोमर राजपूत नरेश से दिल्ली भी छीनकर उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। वह एक पराक्रमी योद्धा, वीर, सेनानी, महत्वाकांक्षी विजेता होने के साथ-साथ योग्य शासक और साहित्य तथा कला का उदार संरक्षक भी था। अजमेर में उसने सरस्वती का एक प्रसिद्ध मंदिर और संस्कृत महाविद्यालय का निर्माण किया था। बाद में इल्तुतमिश ने इन्हें नष्ट कर इनके भग्नावशेषों पर एक मस्जिद निर्मित की जो आजकल ''अढ़ाई दिन के झोपड़े'' के नाम से प्रख्यात है। विग्रहराज विद्वानों का आदर करता था और वह स्वयं भी एक यशस्वी लेखक और कवि था। उसने दो नाटकों की रचना की। 'अढ़ाई दिन के झोपड़े' में उपलब्ध उसके द्वारा रचित हरिकेली नाटक के कुछ अंश उसकी साहित्यिक प्रतिभा के उदारहण हैं। उसकी राजसभा के कवि सोमदेव ने वीसलदेव की प्रशस्ति में 'ललित विग्रहराज' नामक नाटक की रचना की।

पृथ्वीराज तृतीय

यह चैहान वंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रतापी नरेश था। इसकी प्रशस्ति में इसके राजकवि चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक अपभ्रंश महाकाव्य और जयानक ने पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत काव्य की रचना की। राज्य विस्तार की अपनी महत्वकांक्षा, वीरता और युद्धप्रियता से उसने पार्श्ववर्ती देशों को नतमस्तक कर उन्हें अपना शत्रु बना लिया। उसने मध्यप्रदेश में जैजाकभुक्ति के चंदेल नरेश परमर्दिदेव को सन् 1182 में परास्त किया और गुजरात के चालुक्य नरेश भीम द्वितीय से भी युद्ध कर उसे पराजित किया। स्वयंवर में संयोगिता का अपहरण कर उसने कन्नौज के गहड़वाल नरेश जयचंद्र को भी अपना शत्रु बना लिया। स्वयंवर के बाद हुए संघर्ष में उसने गहड़वाल नरेश की सेना को परास्त कर दिया। पृथ्वीराज की दिग्विजयों से प्रभावित होकर मालवा के परमार नरेश ने पृथ्वीराज से बिना युद्ध किये मैत्री कर ली। फलतः पृथ्वीराज ने परमार राजकुमारी इंछिनी से विवाह भी कर लिया। यद्यपि इस प्रकार समस्त उत्तरी भारत में पृथ्वीराज की प्रभुता स्थापित हो गई थी, परंतु उसका अन्य राजाओं से वैमनस्य था। गजनी के तुर्क नरेश शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी ने उत्तरी भारत के राजाओं की पारस्परिक शत्रुता और गृह-कलह का लाभ उठाया और उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश पंजाब और दिल्ली पर आक्रमण किये। हम्मीर महाकाव्य के अनुसार पृथ्वीराज ने गोरी को अनेक बार परास्त कर, खदेड़ कर, छोड़ दिया। सन् 1191 में गोरी ने विशाल सेना से भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने भारतीय नरेशों का एक सैनिक संघ बना कर गोरी को तराइन के युद्ध में बुरी तरह परास्त कर दिया। गोरी रणक्षेत्र में अत्यधिक घायल हुआ और अपनी जान लेकर भागा। अपनी इस पराजय से वह अत्यधिक क्षुब्ध हुआ और पूर्ण योजना बनाकर तैयारी से उसने सन् 1193 में पुनः विशाल सेना सहित दिल्ली पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने गोरी का सामना करने के लिए पुनः भारतीय राजाओं का एक संघ बनाया। इसमें कन्नौज का राजा जयचंद्र सम्मिलित ही नहीं हुआ, अपितु ऐसा कहा जाता है कि उसने गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित भी किया। तराइन के मैदान में द्वितीय बार पृथ्वीराज और गोरी के मध्य भयंकर युद्ध हुआ। इसमें पृथ्वीराज पराजित हुआ और रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुआ। पृथ्वीराज की पराजय से अजमेर और दिल्ली दोनों ही, जहाँ चैहान वंश का राज्य था, तुर्कों के अधिकार में आ गये।

1.1.12 सोलंकी अथवा चैलुक्य वंश

वंशावली

(1) मूलराज प्रथम (लगभग 941-996 ई.), (2) चामुण्डराज (लगभग 997-1009 ई.),
(3) बल्लभराज (लगभग 1009 ई.), (4) दुर्लभराज (लगभग 1009-1024 ई.),
(5) भीम प्रथम (लगभग 1024-1064 ई.), (6) कर्ण (लगभग 1065-1093 ई.),
(7) जयसिंह सिद्धराज (लगभग 1094-1142 ई.), (8) कुमारपाल (लगभग 1143-1172 ई.),
(9) अजयपाल (लगभग 1173-1176 ई.), (10) मूलराज द्वितीय (ल. 1176-1178 ई.),
(11) भीम द्वितीय (लगभग 1178-1241 ई.)।

प्रमुख शासक: मूलराज प्रथम, भीम प्रथम, जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल।

मूलराज

गुजरात में चालुक्य वंश का संस्थापक मूलराज था। उसने अपनी सैनिक शक्ति से गुजरात में अपने मामा के राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। उसने कच्छ के नरेश लाखा या लक्षराज को पराजित कर उसे मार डाला और उसके राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने साँभर के चैहान नरेश से भी युद्ध किया। उसने कई मंदिरों का निर्माण किया ब्राह्मणों को मुक्त-हस्त से दान दिया।

भीम प्रथम

यह बड़ा शक्तिशाली और प्रतापी नरेश था। इसके शासनकाल में महमूद गजनवी ने अन्हिलवाड़ा व गुजरात में सोमनाथ मंदिर पर आक्रमण किया। भीम भयभीत होकर कायरता से भाग गया और महमूद ने मंदिर और नगर को खूब लूटा। महमूद के लौट जाने पर भीम ने पुनः गुजरात पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और शक्ति में वृद्धि की। उसने आबू के परमार नरेश को परास्त किया। इसी बीच धार के भोज परमार की सेना ने अन्हिलवाड़ा को लूटा। इससे भीम ने कलचुरि नरेश लक्ष्मीकर्ण की सैनिक सहायता से भोज पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर दिया।

जयसिंह सिद्धराज

यह बड़ा वीर, युद्ध-प्रिय, साहसी एवं उत्साही शासक था। उसने चैहान राजा को युद्ध में परास्त किया। मालवा के नरवर्मन और यज्ञोवर्मन नामक शक्तिहीन परमार नरेशों से युद्ध कर उन्हें अपने अधीन कर उसने 'अवन्तिनाथ' की उपाधि धारण की। उसने नांदोल के चैहान तथा सौराष्ट्र के चुणासम को भी पराजित किया। उसने बुंदेलखंडके चंदेल राजा पर भी आक्रमण किया, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली, परंतु कलचुरि और गहड़वाल नरेशों से उसने अपने मैत्री-संबंध स्थापित किये। संभव है उसने अरबों को भी परास्त किया हो। वह शैव मतावलम्बी होने पर भी सभी धर्मों के प्रति उदार था और उनका आदर करता था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचंद्र सूरि उसकी राजसभा को अलंकृत करता था। उसने अनेक भवनों और मंदिरों का भी निर्माण किया। वह सोलंकी वंश का सर्वाधिक लोकप्रिय, पराक्रमी, शक्तिशाली, धर्मपरायण और प्रजावत्सल नरेश था।

कुमारपाल

जयसिंह के बाद कुमारपाल नरेश हुआ। उसने शीघ्र ही पड़ौसी राज्यों को परास्त करना प्रारम्भ कर दिया। उसने साँभर के चैहान राजा को परास्त किया, आबू के परमार नरेश के विद्रोह को कुचल दिया, मालवा में गुजरात के चालुक्यों की सत्ता दृढ़ कर ली। उसने दक्षिण के कोंकण के प्रबल नरेश मल्लिकार्जुन को बुरी तरह हरा दिया। उसने चेदि के नरेश को भी हराया। इन विजयों से उसने सोलंकी राजवंश की प्रतिष्ठा और शक्ति में श्रीवृद्धि की। कुमारपाल एक विजेता ही नहीं था, अपितु वह एक सफल शासक, विद्या और कला का संरक्षक भी था। उसके शासनकाल में हेमचंद्र सूरि विद्यमान था और उसने व्याकरण, जैन दर्शन और धर्म पर प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे। कुमारपाल शैव था। उसने विभिन्न मंदिरों और भवनों का निर्माण किया और सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया।

1.1.13 सारांश

पूर्व मध्यकाल में भारतवर्ष की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई तथा उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। हर्षवर्धन की मृत्यु से लेकर मुस्लिम विजय तक का भारतीय इतिहास राजपूतों की प्रभुता के कारण राजपूत युग के नाम से बोधित है।

'राजपूत' प्राचीन भारतीय इतिहास में एक नवीन शब्द है। जिसका उल्लेख सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी में मिलता है। 'राजपूत' शब्द संस्कृत भाषा के 'राजपुत्र' शब्द का अपभ्रंश है, जो प्राचीन भारत में बहुत पहले से प्रचलित था, किन्तु 'राजपूत' शब्द का प्रयोग सातवीं शताब्दी से पूर्व न होने के कारण इतिहासकारों में इसके अर्थ के विषय में काफी मतभेद हैं।

प्रमुख राजपूत राजवंश

1	गुर्जर-प्रतीहार वंश	2.	परमार वंश	3.	चंदेल वंश
4	कलचुरि वंश	5	पाल वंश	6	सेन वंश

7 गहड़वाल वंश 8 चाहमान वंश 9 चैलुक्य वंश

1.1.14 बोध प्रश्न

1.1.14.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजपूत शब्द से आप क्या समझते हैं ?
2. प्रतीहार नरेश नागभट्ट का परिचय दीजिये।
3. परमार शासक मुंज के विषय में आप क्या जानते हैं?
4. चंदेल नरेश विद्याधर पर टिप्पणी लिखिये
5. कलचुरि नरेश लक्ष्मीकर्ण पर प्रकाश डालिये।
6. पाल शासक धर्मपाल के विषय में आप क्या जानते हैं ?
7. सेन नरेश विजय सेन का परिचय दीजिये।
8. जयचंद्र गहड़वाल पर लघु नोट लिखिये।
9. पृथ्वीराज तृतीय पर प्रकाश डालिये।
10. चालुक्य कुमारपाल पर टिप्पणी लिखिये।

1.1.14.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुजरात के सोलंकी वंश का वर्णन कीजिये।
2. चाहमान वंश पर एक लेख लिखिये।
3. गहड़वाल वंश की विवेचना कीजिये।
4. सेन वंश के विषय में आप क्या जानते हैं? विस्तार से लिखिये।
5. पाल वंश पर एक निबंध लिखिये।
6. भारतीय इतिहास में कलचुरियों का क्या स्थान है ? समझाइये।
7. चंदेल राजवंश की उपलब्धियों की विवेचना कीजिये।
8. परमारों की उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।
9. प्रतीहार वंश का वर्णन कीजिये।
10. चाहमान - गहड़वाल संबंधों पर प्रकाश डालिये।

1.1.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रमशेचंद्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962।
2. विमल चंद्र पाण्डेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद।
3. राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संसद वाराणसी, 1962।
4. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962।
5. नगेन्द्रनाथ घोष एम.ए.: भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयोग, 1951।
6. रैप्सन, ई.जे.: कैंब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2।
7. रैप्सन, ई.जे.: एंशेण्ट इण्डिया, कैंब्रिज 1922।
8. राय चैधरी, एच.सी.: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938।
9. नीलकंठ शास्त्री, के.ए.: हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-1, एंशेण्ट इण्डिया, मद्रास, 1950।
10. स्मिथ, बी.ए.: अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924।
11. नीलकंठ शास्त्री: ए कंप्रिहैंसिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, खंड-2, ओरियन्ट लांगमैन्स, 1957।
12. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैंब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इण्डिया, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934।

13. मजूमदार तथा पुसलकर: दी इंपीरियल एज ऑफ कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
14. मजूमदार तथा पुसलकर: दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
15. विशुद्धानंद पाठक: उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, लखनऊ, 1980।
16. श्रीनेत्र पाण्डेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1979।

एम. ए. इतिहास - सेमेस्टर - 2
प्रश्नपत्र - 6 - मध्यकालीन भारत (750 - 1526 ई.)
खंड – 1 पूर्व मध्यकालीन भारत
इकाई – 2 सामाजिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

1.2.1 उद्देश्य
1.2.2 प्रस्तावना
1.2.3 वर्ण व्यवस्था
1.2.3.1 जातिप्रथा
1.2.4 विवाह संस्कार
1.2.4.1 अन्तर्जातीय विवाह
1.2.5 नारी की स्थिति
1.2.5.1 विधवा नारी की स्थिति
1.2.5.2 सतीप्रथा
1.2.5.3 पर्दा प्रथा
1.2.6 वेशभूषा एवं आभूषण
1.2.6.1 वेशभूषा
1.2.6.2 आभूषण
1.2.7 शिक्षा पद्धति एवं शिक्षण संस्थायें
1.2.7.1 शिक्षा पद्धति
1.2.7.2 शिक्षण संस्थायें
1.2.8 खान-पान
1.2.8.1 अन्तर्जातीय भोज
1.2.9 प्रमुख संस्कार
1.2.9.1 ज्योतिष का प्रभाव
1.2.10 सारांश
1.2.11 बोध प्रश्न
1.2.11.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
1.2.11.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
1.2.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.2.1 उद्देश्य

भारतीय इतिहास में पूर्व मध्यकाल को राजपूत काल के नाम से भी जाना जाता है। धर्मशास्त्रकारों, विदेशी यात्रियों तथा इतिहासकारों ने पूर्व मध्यकालीन भारतीय सामाजिक स्थिति का विस्तृत वर्णन किया है। हिंदू-समाज में अतीत काल से जाति प्रथा की अपनी निजी विशेषता है। विदेशी यात्री तथा इतिहासकार इसकी बारीकियों को समझने में सदैव असमर्थ रहे। हिंदू धर्मशास्त्रों में भी इनके

उल्लेख हैं। समस्त हिंदू-समाज चार वर्णों में विभक्त था, किन्तु मेगस्थनीज तथा स्ट्रैवो प्रभृति ग्रीक लेखकों तथा इब्न खुर्दहा तथा अल इदरीश जैसे मुस्लिम इतिहासकारों का मत है कि पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज में सात वर्ग थे। अल्बरूनी ने अपने वृत्तान्त में 16 जातियों का उल्लेख किया है। चार प्रमुख वर्णों के अतिरिक्त उसने 8 स्पर्श्य तथा चार अस्पर्श्य जातियों का उल्लेख किया है। किन्तु उस युग में 16 से भी अधिक जातियाँ थी, क्योंकि समाज क्रमशः प्रगतिशील था। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य पूर्व मध्यकालीन भारत की सामाजिक स्थिति की विस्तार से विवेचना करना है।

1.2.2 प्रस्तावना

पूर्व मध्यकाल में भारत में कोई भी ऐसा शक्तिशाली सम्राट नहीं था जो सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बाँध पाता। सम्पूर्ण भारत के विभिन्न भूभागों पर लगभग 12 राजवंश राज्य कर रहे थे जिन्हें राजपूत राजवंश कहते हैं। 7वीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अनेक प्राचीन व्यवस्थाएँ समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर नई व्यवस्थाओं ने जन्म लिया परंतु समाज के मूलाधार, वर्णाश्रम व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पूर्व मध्यकाल में समाज का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था बनी रही। प्रस्तुत इकाई में पूर्व मध्यकाल में वर्ण व्यवस्था, नारी की स्थिति, वेशभूषा एवं आभूषण, शिक्षा, खान-पान, प्रमुख संस्कार तथा शासन प्रबन्ध पर प्रकाश डाला जाना प्रस्तावित है। इकाई का अन्त में पाठ का सारांश, बोध प्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी उल्लिखित की जावेगी।

1.2.3 वर्ण व्यवस्था

पूर्व मध्यकालीन वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। अलमसूदी तथा अलबरूनी के कथन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इनका प्रमुख कार्य अध्ययन व अध्यापन, यज्ञ करना, पूजा करना तथा बलि देना था। कुछ ब्राह्मणों ने अन्य व्यवसाय भी अपना लिये थे क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था में शिथिलता आने लगी थी। कुछ ब्राह्मण राज्य में उच्च पदाधिकारी थे तो कुछ ने व्यापार करना प्रारंभ कर दिया था। यों तो ब्राह्मण अन्य कोई भी व्यवसाय अपना सकता था परंतु यह समाज में अच्छा नहीं समझा जाता था। वल्लभट्टस्वामिन के ग्वालियर अभिलेख में ग्वालियर दुर्ग के कोट्टपाल अल्ल को ब्राह्मण जाति का बताया गया है। अबूजैद का भी कथन है कि धार्मिक कार्य में रत व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते थे तथा ये दरबार में कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक आदि का कार्य भी करते थे। ब्राह्मणों के पश्चात् समाज में दूसरा वर्ग क्षत्रियों का था इनका युद्ध और शासन का कार्य करना था। राजपूतों के गुणों की प्रशंसा करते हुए कर्नल टाड महोदय ने लिखा है, "उच्चकोटि का साहस, देशभक्ति, स्वामिभक्ति, आत्म-सम्मान, अतिथि-सत्कार तथा सरलता के गुण राजपूतों में पाये जाते हैं।" इस सम्बन्ध में डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "परंतु राजपूत सामाजिक जीवन में कम ऊँचे न थे। वे वीर तथा रणप्रिय होते थे और सम्राट आर्थर के गोलमेज के वीरों की शाँति उच्चादर्षों की रक्षा के लिये उद्यत रहते थे।" वैश्यों का समाज में तीसरा स्थान था। इनका कार्य कृषि व व्यापार करना था।

वर्ण व्यवस्था में शूद्रों का स्थान निम्न था। इनका कार्य उपरोक्त सभी वर्णों के व्यक्तियों की सेवा करना था। इन्हें धार्मिक कार्य तथा पूजा उपासना की अनुमति नहीं थी परंतु मेघातिथी के मतानुसार शूद्र यजन-याजन और बलि जैसे प्रकरण, श्राद्ध, अष्टका और वाषवदेव आदि धार्मिक कार्य कर सकते थे। शूद्रों में ऊँच-नीच की भावना थी। जो जातियाँ अधिक गंदे कार्य करती थीं वे अंत्यज कहलाती थीं, इसके अन्तर्गत धोबी, मोची, जुलाहे, नट, टोकरी बनाने वाले, कुंजडे, मछली मारने वाले और शिकारी आते थे।

ये नगर ग्राम या कस्बे के बाहरी भाग में रहते थे। इनका स्पर्श वर्जित था तथा असावधानी वश स्पर्श होने पर शुद्धि के लिये स्नान तथा प्रायश्चित करना होता था।

1.2.3.1जातिप्रथा

इनके अतिरिक्त अलबरूनी अपने वर्णन में हादी, डोम, चांडाल और वधाताऊ जातियों का उल्लेख करता है। ये जातियाँ किसी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आती थीं। इनका कार्य नगर, कस्बे तथा ग्राम की सफाई करना था। ये चारों वर्णों की अवैध संतान कहलाते थे।

पूर्व मध्यकाल में कायस्थ जाति का उल्लेख मिलता है। चारों वर्णों में कायस्थों की क्या स्थिति थी इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः कायस्थों का संबंध शासन से था। वे न्यायाधीश् महकमों के अध्यक्ष तथा लेखा-जोखा का कार्य करते थे। मुस्लिम इतिहासकार इब्नखुर्दबदा के अनुसार भारतीय समाज सात भागों में विभक्त था - सवकुफ्रया-इसमें सर्वोच्च जाति के लोग रहते थे। राजा का चुनाव इसी वर्ग से होता था। - शेष छह वर्गों के व्यक्ति इनका सम्मान करते थे। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ब्राह्मण आते थे। ये सुरा तथा सभी व्यसनों से दूर रहते थे। तीसरा वर्ग कटारिया संभवतः क्षत्रिय जाति का था। ये तीन प्याले से अधिक सुरा का पान नहीं कर सकते थे। चैथा वर्ग सुदरियों का था। ये व्यवसाय करते थे। संभवतः इब्नखुर्दबदा ने वैश्यों को सुदरिया कहा है। पाँचवाँ तथा छठवाँ वर्ग बसुरिया तथा संडलिया का था बसुरिया बाँस से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करते थे तथा संडलिया का कार्य चांडलों के समान था। सातवाँ वर्ग लाहुद जाति का था इस जाति की स्त्रियाँ अपने को सजाने सँवारने में व्यस्त रहती थीं तथा पुरुष विभिन्न खेलों तथा तमाशों के प्रदर्शन का कार्य करते थे।

उपरोक्त वर्णित वर्णों की सामाजिक स्थिति में भिन्नता थी। अलबरूनी का कथन है कि इन वर्णों में आपस में सामान्यतः खान-पान नहीं होता था। शूद्र तथा उससे निम्न जाति वालों के यहाँ उच्च वर्ग के व्यक्ति पानी भी नहीं पीते थे। हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर प्रकाश डालते हुए वह कहता है किहिंदू म्लेच्छों के यहाँ अन्न, जल ग्रहण नहीं करते थे। यदि किसी हिंदू दास को म्लेच्छ अपने देश ले जाते थे तो वहाँ से लौटने पर शुद्धीकरण के पश्चात् समाज उसे पुनः अपना लेता था। इस समय जबकि बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जाता था शुद्धीकरण की यह प्रक्रिया सत्य प्रतीत होती है। दास प्रथा का प्रचलन था। राजशेखर और अलबरूनी दोनों दासों का वर्णन करते हैं। राज महल की दासियों की दशा अच्छी थी, वे राजकुमारियों की सखियों की भाँति रहती थीं। चँवर डुलाने वाली, तलवार लिये, केश सँवारने वाली, बाण लिये, पानदान उठाने वाली, माला लिये, स्नान कराने वाली, ढाल, तलवार लिये केश तथा कविता करने वाली स्त्रियों का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ सेवा तथा रक्षा दोनों कार्य करती थीं।

1.2.4 विवाह संस्कार

समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। अंतर्जातीय विवाह संबंधों में कठोरता न थी। समाज में अनुमोल विवाह प्रचलित थे। इब्नखुर्दबदा व अलबरूनी का कथन है कि व्यक्ति अपने वर्ण तथा अपने वर्ण से एक नीचे वर्ण से विवाह संबंध कर सकता था। उसके इस कथन की सत्यता प्रतीहार वंश के संस्थापक हरिचन्द्र के क्षत्रिय कन्या भद्रा के साथ हुए विवाह से पुष्ट होती है। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' में भी उल्लेख है कि ब्राह्मण राजशेखर का विवाह क्षत्रिय कन्या अवन्ति सुंदरी के साथ हुआ था परंतु समाज में इन विवाहों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्रतिलोम विवाह का समाज में प्रचलन न था। अलबरूनी कहता है कि व्यक्ति को अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह का निषेध था। इब्नखुर्दबदा भी इस कथन

की पुष्टि करता है। माता-पिता के गोत्र में विवाह वर्जित था। समाज में बाल-विवाह प्रथा प्रचलित थी। बहुविवाह प्रथा का भी समाज में प्रचलन था। अलबरूनी का कथन है कि एक व्यक्ति चार विवाह कर सकता था। समाज के उच्च वर्ग में यह अधिक प्रचलित था।

विवाह विच्छेद तत्कालीन हिंदू समाज में संभव न था, पति-पत्नी मृत्यु द्वारा ही एक दूसरे से अलग हो सकते थे। विधवा विवाह का समाज में प्रचलन न था। नियोग प्रथा को समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सती होना समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। अलबरूनी का कथन है कि मृत राजा के शव के साथ उसकी सभी पत्नियाँ अग्नि में प्रवेश करती थीं। इस काल में सती प्रथा में रूढ़ता आ गई थी।

1.2.4.1अन्तर्जातीय विवाह

आज की भाँति उस युग में भी विवाह एक पुनीत संस्कार समझा जाता था और सवर्ण विवाहों की ही सर्वत्र प्रतिष्ठा थी। अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह भी होते थे, किन्तु उनका समाज में आदर न था। तत्कालीन शिलालेखों में इस संबंध की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, जिससे ज्ञात होता है कि सवर्ण विवाह का ही सर्वत्र समादर था। शिलालेखों में दिये हुए नरेशों तथा उनके मंत्रियों के वंश-परिचय से अनेक सवर्ण विवाहों का निर्देश मिलता है। प्रबोध चन्द्रोदय में एक अनुलोम विवाह का निर्देश है। प्रबोध चन्द्रोदय में अहंकार नामक पात्र का कथन है- ''हे मूर्ख सुनो। मेरी माँ उत्तम कुल की न थी, किन्तु मैंने अग्निहोत्रिन ब्राह्मण की कन्या से विवाह किया है। अस्तु, मैं अपने पिता से उच्च हूँ।'' जिन परिस्थितियों में यह कथन हुआ है, उनके विश्लेषण से प्रतीत होता है कि यद्यपि इस प्रकार के विवाह उस युग में प्रचलित थे किन्तु उनका समादर न होता था। अल्बरूनी भी अनुलोम विवाह को घृणा की दृष्टि से देखता था। कल्हण ने भी राजतरंगिणी में इसकी बड़ी आलोचना की है।

1.2.5 नारी की स्थिति

पूर्व मध्ययुग में नारियों को वे सभी सुविधायें न प्राप्त थीं, जो उन्हें उसके पूर्ववर्ती काल में प्राप्त थीं। फिर भी उनकी दशा साधारणतः अच्छी थी। कुछ प्रतिबंधों का प्रचार प्रारंभ हो गया था। बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी थी। इसकी पुष्टि अल्बरूनी से भी होती है। उसका कथन है कि छोटी आयु होने के कारण वैवाहिक संबंध बच्चों के पिता तथा अभिभावक तय करते थे। कोई ब्राह्मण द्वादश वर्ष से अधिक आयु वाली कन्या से विवाह न कर सकता था।

कन्या की अपेक्षा पुत्र जन्म को अधिक महत्व दिया जाता था। 'विद्धशालभंजिका' में वर्णन है कि लाट देश के राजा चन्द्रवर्मा ने अपनी पुत्री मृगांकवली को मृगांकवर्मा के नाम से प्रसिद्ध किया क्योंकि उससे कोई पुत्र न था तथा पुत्री ही राज्य की उत्तराधिकारी थी। परिवार में इनकी उच्च स्थिति का परिचय पूर्व मध्यकाल के अभिलेखों में मिलता है। अहार अभिलेख में भट्टनी महादेवी का परिचय उसकी स्थिति का परिचय देता है। प्रशासन चलाने में प्रतीहार रानी महादेवी सहायता देती थी। उसे अग्रहार दान देने का पूरा अधिकार था। अल्पवयस्क राजा की संरक्षिका के रूप में वह प्रशासन संभालती थी।

स्त्रियों को शिक्षा अर्जन का पूर्ण अधिकार था। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुंदरी एक प्रसिद्ध कवियित्री थी। मारूला, मोरिका तथा सुभद्रा इस काल की प्रमुख विदुशी महिलाएँ थीं। शिक्षा के अतिरिक्त ललितकलाओं का भी स्त्रियों को ज्ञान कराया जाता था परंतु सामान्यतः स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार अल्प था। समस्त समाज में लगभग 10 प्रतिशत स्त्रियाँ ही शिक्षित थीं। स्त्रियाँ शास्त्रों में भी रुचि

रखती थीं। देवदासी और वैश्यावृत्ति का भी समाज में प्रचलन था। इनके विकास में राजा और धनी व्यक्तियों का प्रमुख हाथ था।

1.2.5.1 विधवा नारी की स्थिति

निष्ठावान् आर्य महिला की समस्त आशाओं का केन्द्रबिन्दु पति ही माना जाता था। वह अपनी पत्नी के लिए सभी सुखों का उद्गम कहा जाता था। पत्नी सदैव उसके सुख-दुख की संगिनी होती थी। इस तथ्य की यथार्थता का बोध प्रबोध चन्द्रोदय के शांति नामक पात्र के कथन से होता है- ''सम्माननीया का यह कर्तव्य है कि वह उस समय की प्रतीक्षा करे, जबकि संकटापन्न उसका पति अपने कष्टों से मुक्त न हो जाये।'' विधवाओं का भाग्य बड़ा कठोर था, उन्हें जीवन के सभी साज-शृंगार तथा सुखों से विरक्त होना पड़ता था और सदा ही सांसारिक सुखों की उपेक्षा करनी पड़ती थी, जैसा कि स्मृतियों में भी विधान है। मानदेव के चंगुनारायण शिलालेख में विधवा के अभिशाप का विशद् वर्णन है।

1.2.5.2 सतीप्रथा

सुलेमान सौदागर के वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि सम्भवतः उस युग में सती प्रथा का विशेष प्रचार न था। उसका कथन है कि ''कभी-कभी राजा की चिता में उसकी रानियाँ कूदकर अपने प्राण विसर्जित करती थीं, किन्तु ऐसा करना अथवा न करना उनकी इच्छा पर निर्भर था। अल्बरूनी इस कथन का खंडन करता है। उसका लेख है कि रानियाँ चाहे अथवा न चाहें, उन्हें राजा के साथ सती होना ही पड़ता था।

डॉ. अल्तेकर का कथन है कि 700 ई. से 1200 ई. तक के युग में कश्मीर के अतिरिक्त उत्तरी भारत में सती प्रथा के लिखित उदाहरण बहुत कम हैं। यद्यपि उस युग के शिलालेखों का बाहुल्य है, किन्तु उनमें सती प्रथा के प्रचार का निर्देश नहीं मिलता है। प्रतिहार, परमार, चेदि तथा चन्देल शिलालेख इस संबंध में मौन हैं, यद्यपि उनमें पराजित शत्रुओं की पत्नियों के दुर्भाग्य का विविध रूप से वर्णन है। धंगदेव के खजुराहो शिलालेख में कांजी, अंग, आन्ध्र तथा राधा देश की रानियों का उल्लेख है कि यशोवर्मन ने उनके राजाओं को पराजित करके उन्हें कारागार में डाल दिया था। उसी नरेश के ननयोरा ताम्रलेख में भी पराजित शत्रुओं की पत्नियों का उल्लेख है कि उनके विहर की अग्नि निरन्तर अश्रुवर्षा से शांत न होती थी। केवल गांगेयदेव का ही एक उदारहण है कि मोक्ष की अभिलाषा से उसने अपनी सौ रानियों के साथ प्रयाग में अक्षयवट के नीचे प्राण विसर्जित किये थे। किन्तु जिस विवरण के साथ इस घटना का उल्लेख है, उससे स्पष्ट है कि गांगेयदेव की रानियों ने सती संस्कार नहीं किया, यद्यपि उन्होंने राजा के साथ धार्मिक भावना से प्रेरित होकर प्राण विसर्जित किये। इससे स्पष्ट है कि सतीप्रथा का प्रचार उस युग में न था।

1.2.5.3 पर्दा प्रथा

हर्ष के समय में कोई पर्दा प्रथा न था। अबूजैद का भी कथन है कि ''भारत के अनेक नरेश जब राज सभा में बैठते हैं, तब उनके साथ उनकी रानियाँ भी बैठती हैं और दरबार में उपस्थित होने वाले देशी अथवा विदेशी लोग उन्हें देखते थे। किन्तु थोड़े दिनों पश्चात् पर्दा प्रथा का प्रचार प्रारंभ हुआ पर यह प्रथा केवल कुछ राजवंशों तक ही सीमित रही। हिंदू सामन्त तथा सरदार अपने रनिवासों में भी इस प्रथा का प्रारंभ करने लगे। मुसलमानों के भारत में आने के पश्चात् पर्दा प्रथा का प्रचार जनसाधारण में हुआ।

समाज में पर्दा प्रथा प्रचलित थी। परंतु उसके नियम कठोर नहीं थे। अबूजैद का कथन है कि तत्कालीन अधिकांश राजा रानियों सहित राज दरबार में आते थे। मेलों और धार्मिक उत्सवों में स्त्रियाँ भाग लेती थीं। समाज में स्त्रियों का सम्मान था।

1.2.6 वेशभूषा एवं आभूषण

1.2.6.1 वेशभूषा

खजुराहो में प्राप्त मूर्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों की वेशभूषा लगभग वैसी ही थी, जैसी आज भी भारत के कुछ हिस्सों में पाई जाती है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों धोती पहनते थे, उसे कमर में लपेटकर शेष भाग को स्कंध पर डाल देते थे। ऊपर पहनने का वस्त्र उत्तरीय था जिसे स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। स्त्री समाज अलंकरण और प्रसाधन में रुचि रखता था। अनेक प्रकार की केश विन्यास प्रणालियाँ प्रचलित थीं। वे गंधतेल, चंदन, कज्जल, सुरमा, मिस्सी आदि सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करती थीं। उनके प्रमुख आभूशण वलय, मुक्ताहार, कुण्डल, कांची, नूपुर आदि थे। नीवी, चोलक, दुकूल आदि परिधान स्त्रियों द्वारा धारण किये जाते थे। परिधान नील, लोहित, आदि रंगों के होते थे। धनिक वर्ग में चीनांशुक का प्रयोग होता था। रेशमी वस्त्र के विषय में सुलेमान लिखता है कि वह मुद्रिका के मध्य से निकल जाता था। पुरुषों के वस्त्र अधिकतर श्वेत होते थे। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियाँ गेरुए चीवर धारण करती थीं। जैन सन्यासी पीत तथा हिंदू सन्यासी काषाय वस्त्र धारण करते थे। अलबरूनी का मत है कि पुरुष चर्म-उपानह धारण करते थे परंतु स्त्री समाज में इनका उपयोग नहीं होता था।

1.2.6.2 आभूषण

पूर्व मध्य कालीन स्त्रियाँ आभूषणों तथा चित्रकारी से भी शृंगार करती थीं। प्रबोध चन्द्रोदय के एक स्थल से चन्देलयुगीन स्त्रियों के शृंगार पर प्रकाश डाला गया है। 'महामोह' नामक पात्र का मिथ्यादृष्टि के संबंध में यह कथन है कि वह मन्थर गति से बाहु हिलाने से कंकण ध्वनि करती हुई क्रीड़ा से भूपतित पुष्प माला को कौतुक से उठाती हुई आ रही है। उसी नाटक के एक अन्य स्थल में तत्संबंधी और विवरण भी है। स्त्रियों के शृंगार का वर्णन करते हुए 'वस्तु विचार' नामक पात्र का कथन है कि ''खनखनाते हुए मणिमुक्ताहार सोने के चरणालंकार कुंकुम के राग सुगंधित पुष्प विचित्र मालाएं, रंग-बिरंगी कपड़ों से नारी की कल्पना की गई है। ललितपट्टन अभिलेख में दन्तपंक्तियों के रंगने का उल्लेख हैं।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ अपने शरीर को सोने, चाँदी तथा अनेक मणि के आभूषणों तथा पुष्प और मौक्तिक मालाओं से सुसज्जित करती थीं कभी-कभी अपने पक्ष को भी वे छोटी-छोटी पंक्तियों से सुसज्जित करती थी और सीमेन्ट की भाँति के एक सुगंधित पदार्थ द्वारा शरीर में संलग्न करती थी। इन सभी श्रंगारों में सिन्दूर का बड़ा महत्व था। इसका उल्लेख शिलालेखों तथा साहित्य में है। आज की भाँति उस युग में भी यह सधवाओं का सौभाग्य चिन्ह माना जाता था और इसी कारण विजेता नरेशों का उल्लेख शत्रु पत्नियों के सिन्दूर के संदर्भ में मिलता है। प्रबोध चन्द्रोदय में 'राजा' नामक पात्र का कथन है कि ''सूर्यास्त की भाँति रक्त सिन्दूर जिससे ईश्वर विरोधियों की पत्नियों की सीमन्त सजाई जाती थी, उस सिन्दूर के प्रक्षालन में आप दक्ष हैं। राजा के वीरोचित कार्यों के वर्णन में 'रिपुबिलासिनी सीमन्तोद्धरण' हेतु पद का प्रायः उल्लेख होता है। भीम नगरी गढ़ ताम्रलेख में 'शत्रु सीमन्तनीकेशपासकुसुम' वासित पद से प्रतीत होता है कि सिन्दूर के अतिरिक्त पुष्पों से भी स्त्रियाँ अपने बालों का शृंगार करती थीं।

1.2.7 शिक्षा पद्धति एवं शिक्षण संस्थायें

1.2.7.1 शिक्षा पद्धति

राजशेखर के ग्रंथों में मसिपिंड, अष्टादश लिपि, केतलीदल लेख पाठ इत्यादि शब्द मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में विद्यार्थियों के तीन वर्गों का वर्णन किया है, सहजा (जो एक बार सुनकर याद कर ले), आहार्यबुद्धि (जो अभ्यास से याद करे)

और औपदेशिका (जो उपदेश से भी शिक्षा ग्रहण न कर सके)। परंपरागत चैदह विषयों के अतिरिक्त वार्ता (कृषि और वाणिज्य), दंडनीति, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, और साहित्य विद्या की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी, काम्पिल्य, पाटलिपुत्र, अविन्त, भिनमाल, कन्नौज आदि शिक्षा के केन्द्र थे। इन केन्द्रों में समय-समय पर ब्रह्म सभाएँ होती थीं जो काव्य-शास्त्र की परीक्षा लेती थीं।

संस्कृत सदैव से ही विद्वानों की भाषा रही और उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में उसका समावेश था। साधारण ज्ञान की प्रारंभिक शिक्षा साधारणतः जन साधारण की भाषा में ग्रामों में अध्यापकों द्वारा दी जाती थी। इन अध्यापकों का मुख्य कार्य अपने विद्यार्थियों को लिखने-पढ़ने तथा गणित का व्यवहारिक ज्ञान कराना था। उच्च-शिक्षा का पाठ्यक्रम अधिक जटिल था। शिलालेखों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वेद, वेदांग (व्याकरण, साहित्य, धर्म, श्रुति तथा तर्कशास्त्र) उच्च शिक्षा के मुख्य अंग थे। देववर्मा के ननयौरा ताम्रलेख में ब्राह्मण अभिमन्यु का उल्लेख है। जो वेदांग का पूर्ण ज्ञाता था। धंगदेव के खजुराहो शिलालेख में उसके रचयिता 'राम' का निर्देश सूक्ति रचना दक्ष के रूप में है। उसका पिता बलभद्र साहित्य रत्नाकर तथा श्रुतिपार-दर्शिन और पितामह नन्दन कविचक्रवर्तिन था। चन्देल वंश के अंतिम महान नरेश परमर्दिदेव ने शुद्ध संस्कृत में भगवान् शंकर की स्तुति लिखी थी। व्याकरण सभी शास्त्रों के ज्ञान की कुँजी समझी जाती थीं और उसके अध्ययन का बड़ा प्रचार था। देश में उत्तम वैयाकरणों की कमी न थी। शिलालेखों में दैद्दु वैयाकरणी का उल्लेख मिलता है। उसके पुत्र माधव ने यशोवर्मन के खजुराहो शिलालेख की रचना की थी। उस समय विज्ञान की अनेक शाखाओं के अध्ययन का भी सम्यक् प्रचार था। कवीन्द्र देवधर रचित बघरी शिलालेख में यह वर्णन है कि लक्ष्मीधर समस्त विज्ञानरूपी जलाशय में निवास करने वाले राजहंस के समान था। निःसंदेह ''समस्त विज्ञान'' के उल्लेख से कोई बात स्पष्ट नहीं होती है फिर भी तत्कालीन स्थापत्य कला के विकास एवं अभ्युदय से स्पष्ट है कि इस दिशा में भी विशेष प्रगति हुई थी। मूर्तिकला भी अपनी चरम सीमा पर थी। किन्तु विद्योन्नति की इतिश्री यहीं से नहीं। साहित्य, स्थापत्य तथा मूर्तिकला के साथ ही साथ अन्य लाभदायक विज्ञानों की भी समुचित उन्नति हुई थी। अनेक शिलालेखों में वैद्यों का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि उन दिनों आयुर्वेद का पर्याप्त प्रचार था। इसके अतिरिक्त पशुचिकित्सा का भी समुचित विकास था, जैसा कि अश्ववैद्य के निर्देश से स्पष्ट है।

1.2.7.2 शिक्षण संस्थायें

विशाल एवं सुन्दर मंदिर राजपूत युग की देन थे और अतीतकाल से मंदिर ही शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। मंदिरों को राज्य की ओर से अथवा धनी-मानी व्यक्तियों द्वारा दान प्राप्त होता था। मंदिरों में देश-विदेश से आये हुए छात्रों को विद्यादान किया जाता था। उस युग में 'अग्रहार' ग्राम भी विद्या तथा शिक्षा के केन्द्र थे। राजपूत शिलालेखों में अनेक अग्रहार ग्रामों का उल्लेख मिलता है। विक्रमाब्द 1107 में देववर्मन का ''कंठहऊ'' नामक ग्राम वेदवेदांग पारंगत, ब्राह्मणोचित छहों कत्र्तव्यों में रूचि रखने वाले ब्राह्मण अभिमन्यु को दान दिया गया था, परमर्दिदेव के विक्रमाब्द 1203 के महोबा दानलेख में दंडीव महाग्रहार से आये हुए ब्राह्मणरत्न शर्मन को मकर संक्रान्ति के अवसर पर धनौरा ग्राम की भूमि के दान उल्लेख है। इन अग्रहार ग्रामों में शिक्षा संस्थाएँ थीं और वहाँ निवास करने वाले विद्वान् ब्राह्मण शिक्षा तथा विद्या की उन्नति के प्रति प्रयत्नशील रहते थे।

इन सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप विद्या की बड़ी उन्नती थी। विद्या का प्रचार केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न था। राजकुमार भी साहित्य, कला तथा कविता में निपुणता प्राप्त करने के लिये प्रयास करते थे। परमर्दिदेव ने भगवान् शंकर की स्तुति में सुन्दर श्लोक लिखे गंड ने भी सुलतान महमूद की प्रशंसा में कुछ छन्द लिखे थे।

पूर्व मध्यकालीन शिलालेखों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उस समय उत्कृष्ट कविताओं की रचना सफलतापूर्वक की जाती थी। अधिकांश राजपूत शिलालेखों की रचना शासन अधिकारियों द्वारा हुई थी, किन्तु उनके काव्य सौष्ठव को देखकर प्रतीत होता है कि उन कवियों ने काव्य मर्मज्ञता प्राप्त करने के लिये पर्याप्त प्रयास किया होगा। उनमें से अधिकांश उल्लेख कवि चक्रवर्ती, साहित्य रत्नाकर आदि के रूप में हुआ है, जिससे जनसाधारण तथा राज्य की रूचि का बोध होता है। इस साहित्यिक विकास के साथ-ही-साथ दर्शन शास्त्र में भी लोगों की विशेष रूचि थी। प्रबोध चन्द्रोदय नामक दार्शनिक नाटक का अभिनय कीर्तिवर्मन के समक्ष प्रस्तुत हुआ था। इससे भी उस युग की दार्शनिकता का बोध होता है।

राजपूत नरेश विद्वानों के आश्रयदाता थे। प्रसिद्ध विद्वान राजशेखर इस युग की साहित्यिक विभूति थे, जिन्होंने कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, काव्यमीमांसा, बाल-भरत आदि ग्रंथों की रचना की। क्षेमेश्वर भी संभवतः राजपूतों की राज सभा में रहता था।

1.2.8 खान-पान

मदिरा पान का समाज में प्रचार था। राजशेखर ने राजा, सन्यासी और साधारण प्रजा तीनों में मदिरा पान का प्रचलन बताया है। राजशेखर की साहित्यिक कृतियों में मदिरापान का इतना वर्णन है कि तत्कालीन समाज में इसकी लोकप्रियता प्रमाणित हो जाती है। अलमसूदी और राजशेखर का कथन है कि स्त्रियाँ भी सुरापान करती थीं।

ब्राह्मण समाज में माँस भक्षण निषिद्ध था परंतु इस विषय में मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णन में विरोधाभास है। अलमसूदी का कथन है कि ब्राह्मण किसी भी जानवर का माँस नहीं खाते थे किन्तु अलबरूनी का कथन है कि वे गैंडे का माँस खा सकते थे। सामान्यतः भेड़, बकरी, खरगोष, भैंस, मछली, मुर्गा, बदक, मोर आदि जानवरों का माँस खाया जाता था। पशुओं में घोड़ा, गाय, खच्चर, गधे, ऊँट, तथा हाथी का माँस भक्षण वर्जित था। इनकी स्वतः मृत्यु हो जाने पर शूद्र इनका माँस भक्षण कर सकते थे। ब्राह्मणों के लिये लहसुन, प्याज, गाजर, एक प्रकार की लौकी तथा पानी में उगने वाली कमल-ककड़ी का सेवन वर्जित था। वे गाय तथा भैंस के दूध के अतिरिक्त अन्य जानवरों के दूध का भक्षण नहीं करते थे। सामान्यतः भोजन में अनाज, घी, दूध तथा शक्कर का समावेश रहता था। अलबरूनी कहता है कि ब्राह्मण एक-एक करके भोजन करते थे तथा भोजन के पूर्व तथा पश्चात् उस स्थान को गाय के गोबर से लीपते थे।

1.2.8.1 अन्तर्जातीय भोज

अन्तर्जातीय विवाह के निषेध के साथ ही अन्तर्जातीय भोज के भी नियम कठोर हो गये थे। आंगिरस में शूद्र के साथ सहभोज का निषेध है। किन्तु राजपूत युग में ये नियम इतने कठोर हो गये थे कि ब्राह्मण भी बिना पाद-प्रक्षालन वटु के निवास में प्रवेश न कर सकाता था। इन कठोर नियमों के होते हुए अन्तर्जातीय सहभोज संभव न था। अल्बरूनी का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण कुछ निश्चित दिनों तक शूद्र के घर का भोजन करता था वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के भोजन में अन्तर आ जाने से उनका परस्पर सहभोज असंभव हो गया था। ब्राह्मण पूर्ण शाकाहारी बन गये थे जब कि क्षत्रिय माँसाहारी हो रहे थे। इन परिस्थितियों में ब्राह्मण तथा वैश्यों का सहभोज भी असंभव हो गया था। इस प्रकार सवर्ण विवाह की भाँति, उस युग में, सजातीय सहभोज की ही प्रतिष्ठा थी।

1.2.9 प्रमुख संस्कार

पूर्व मध्यकालीन सामाजिक जीवन सादा था। कर्पूरमंजरी में कहा गया है कि हिंदू परस्पर मिलने पर अभिवादन करते थे।

संतान प्राप्ति के लिये गर्भाधान संस्कार किया जाता था। गर्भधारण के चैथे मास में सीमन्तोन्नयन नाम संस्कार तथा पुत्र प्राप्ति होने पर जात्तकर्मन, नामकरण आदि संस्कार किये जाते थे। संतान उत्पन्न होने पर उस घर में अन्य व्यक्ति अन्न जल ग्रहण नहीं करते थे। यह अवस्था सभी जातियों के लिये अलग-अलग थी। संतान के तीन वर्ष का हो जाने पर चूड़ाकरण संस्कार तथा आठ वर्ष का हो जाने पर कर्णभेद नामक संस्कार किया जाता था।

मृतक का दाह संस्कार किया जाता था परंतु आश्रम में रहने वाले सिद्ध पुरुषों को समाधिस्थ किया जाता था। अलबरूनी का कथन है कि निर्धनता के कारण जो व्यक्ति शव का दाहकर्म करने में असमर्थ होते थे वे शव को खुला छोड़ देते थे या जल में प्रवाहित कर देते थे। अल-उतबी का कथन है कि शव को जलाने के पश्चात् उसके अवशेषों को नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था ऐसा करने से मृतक के पाप नष्ट हो जाते हैं। अलबरूनी कहता है कि मृतक के दाह स्थल पर स्मृति चिन्ह बनाया जाता था। मृतक के संस्कार के पूर्व उसे स्नान कराया जाता था तथा उसकी केशसज्जा की जाती थी। तत्पश्चात् चंदन तथा तीव्र अग्निग्राही पदार्थों की सहायता से उसका दहन किया जाता था। मृतक के शव के साथ जो व्यक्ति दाह स्थल तक जाते थे वे लौटते समय अपने कपड़े साफ करते तथा केशों को मुंडवाते थे। शव घर में रहने पर कोई भोजन आदि ग्रहण नहीं करता था। अलबरूनी के वर्णन के अनुसार दाहकर्म के दसवें व तेरहवें दिन विशेष उत्सव होते थे तथा इनका क्रम एक वर्ष तक चलता था।

1.2.9.1ज्योतिष का प्रभाव

ज्योतिष तथा खगोल विद्या में लोगों की पूर्ण निष्ठा थी। लोगों के दैनिक जीवन में भी उनकी पैठ थी। इन विधाओं का प्रभाव केवल जनसाधारण तक ही न सीमित था। धनी, निर्धन, शिक्षित-प्रशिक्षित सभी समान रूप से इनके महत्व को स्वीकार करते थे। साधारण कार्यों से लेकर राजाओं के सैन्य प्रस्थान तक के मुहूर्त ज्योतिषियों द्वारा निश्चित किये जाते थे। इसकी पुष्टि प्रबोध चन्द्रोदय से भी होती है। विजय-प्राप्ति के हेतु अनुष्ठान भी किये जाते थे।

1.2.10 सारांश

पूर्व मध्यकालीन सामाजिक स्थिति - भारतीय इतिहास में पूर्व मध्यकाल को राजपूत काल के नाम से भी जाना जाता है। 7वीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अनेक प्राचीन व्यवस्थाएँ समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर नई व्यवस्थाओं ने जन्म लिया परंतु समाज के मूलाधार, वर्णाश्रम व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

वर्ण व्यवस्था - पूर्व मध्यकालीन वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। दूसरा वर्ग क्षत्रियों का था इनका युद्ध और शासन का कार्य करना था। वैश्यों का समाज में तीसरा स्थान था। वर्ण व्यवस्था में शूद्रों का स्थान निम्न था। इनका कार्य उपरोक्त सभी वर्णों के व्यक्तियों की सेवा करना था। पूर्व मध्यकाल में कायस्थ जाति का उल्लेख मिलता है।

विवाह संस्कार - समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। अंतर्जातीय विवाह संबंधों में कठोरता न थी। समाज में अनुमोल विवाह प्रचलित थे।

नारी की स्थिति - पूर्व मध्ययुग में नारियों को वेसभी सुविधायें न प्राप्त थीं, जो उन्हें उसके पूर्ववर्ती काल में प्राप्त थीं। फिर भी उनकी दशा साधारणतः अच्छी थी। कुछ प्रतिबंधों का प्रचार प्रारंभ हो गया था। बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी थी।

वेशभूषा एवं आभूषण - खजुराहो में प्राप्त मूर्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों की वेशभूषा लगभग वैसी ही थी, जैसी आज भी भारत के कुछ हिस्सों में पाई जाती है। पूर्व मध्य कालीन स्त्रियाँ आभूषणों तथा चित्रकारी से भी शृंगार करती थीं।

शिक्षा पद्धति एवं शिक्षण संस्थायें- राजशेखर के ग्रंथों में मसिपिंड, अष्टादश लिपि, केतलीदल लेख पाठ इत्यादि शब्द मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। विशाल एवं सुन्दर मंदिर राजपूत युग की देन थे और अतीतकाल से मंदिर ही शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्र रहे हैं।

खान-पान - मदिरा पान का समाज में प्रचार था। राजशेखर ने राजा, सन्यासी और साधारण प्रजा तीनों में मदिरा पान का प्रचलन बताया है। सामान्यतः भेड़, बकरी, खरगोष, भैंस, मछली, मुर्गा, बदक, मोर आदि जानवरों का माँस खाया जाता था। पशुओं में घोड़ा, गाय, खच्चर, गधे, ऊँट, तथा हाथी का माँस भक्षण वर्जित था। ब्राह्मणों के लिये लहसुन, प्याज, गाजर, एक प्रकार की लौकी तथा पानी में उगने वाली कमल-ककड़ी का सेवन वर्जित था। वे गाय तथा भैंस के दूध के अतिरिक्त अन्य जानवरों के दूध का भक्षण नहीं करते थे। सामान्यतः भोजन में अनाज, घी, दूध तथा शक्कर का समावेश रहता था।

प्रमुख संस्कार - पूर्व मध्यकालीन सामाजिक जीवन सादा था। कर्पूरमंजरी में कहा गया है कि हिंदू परस्पर मिलने पर अभिवादन करते थे। संतान प्राप्ति के लिये गर्भाधान संस्कार किया जाता था। गर्भधारण के चैथे मास में सीमन्तोन्नयन नाम संस्कार तथा पुत्र प्राप्ति होने पर जात्तकर्मन, नामकरण आदि संस्कार किये जाते थे। मृतक का दाह संस्कार किया जाता था

ज्योतिष का प्रभाव - ज्योतिष तथा खगोल विद्या में लोगों की पूर्ण निष्ठा थी।

1.2.11 बोध प्रश्न

1.2.11.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पूर्व मध्यकालीन अन्तर्जातीय विवाह पर प्रकाश डालिये।
2. पूर्व मध्यकाल में सतीप्रथा की क्या स्थिति थी ?
3. पूर्व मध्यकाल में विधवा नारी की स्थिति का उल्लेख कीजिये।
4. पूर्व मध्यकालीन वेशभूषा के विषय में आप क्या जानते हैं ?
5. पूर्व मध्यकालीन आभूषणों पर टिप्पणी लिखिये।
6. पूर्व मध्यकालीन शिक्षा पद्धति पर एक लघु नोट लिखिये।
7. राजपूत कालीन खान-पान पर प्रकाश डालिये।
8. राजपूत काल में अन्तर्जातीय भोज की क्या स्थिति थी ?
9. राजपूत कालीन शिक्षण संस्थाओं का परिचय दीजिये।
10. पूर्व मध्यकाल में ज्योतिष का क्या प्रभाव था ? स्पष्ट कीजिये।

1.2.11.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पूर्व मध्यकालीन वर्ण व्यवस्था का वर्णन कीजिये।
2. पूर्व मध्यकालीन विवाह संस्कार पर प्रकाश डालिये।
3. पूर्व मध्यकाल में नारी की स्थिति का विवेचन कीजिये।

4. राजपूत कालीन में खान-पान, वेशभूषा एवं आभूषणों की विवेचना कीजिये।
5. राजपूत कालीन शिक्षा पद्धति एवं शिक्षण संस्थाओं का वर्णन कीजिये।
6. राजपूत कालीन संस्कारों को वर्णित करते हुए समाज पर ज्योतिष का प्रभाव बताइये।
7. पूर्व मध्यकालीन सामाजिक स्थिति की विवेचना कीजिये।

1.2.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मिश्र, जयशंकर: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
2. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
3. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
4. दिनकर, रामधारी सिंह: संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
5. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1975
6. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
7. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
8. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
9. सहाय, एस. एस. : हिन्दु सामाजिक संस्थायें एवं आर्थिक जीवन, दिल्ली, 1992
10. जैन, के. सी. : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, भोपाल, 1984
11. गिडियन, नवीन : परमार युग, सागर, 1996

खंड-2 : दक्षिण भारतीय साम्राज्य

इकाई-2 : चोल साम्राज्य (विशेष संदर्भ–स्थानीय प्रशासन)

इकाई की रूपरेखा

2.2.1. उद्देश्य
2.2.2. प्रस्तावना
2.2.3. उद्भव
2.2.4. विजयालय द्वारा स्थापित राजवंश के प्रारंभिक शासक
2.2.5. राजराज-प्रथम (985 ई.-1014 ई.)
2.2.6. राजेंद्र-प्रथम (1014ई.-1044 ई.)
2.2.7. राजेंद्र-प्रथम के उत्तराधिकारी
2.2.8. कुलोतुंग-प्रथम (1070 ई.-1122 ई.)
2.2.9. प्रशासन एवं स्थानीय स्वशासन
2.2.10. कला और वास्तुकला
2.2.11. समुद्रवर्ती गतिविधियाँ
2.2.12. सारांश
2.2.13. बोध प्रश्न
2.2.14. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.2.1. उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को चोल राजवंश के इतिहास से परिचित कराना है। विषय का प्रारंभ चोल राजाओं के राजनैतिक इतिहास से किया गया है। इसमें राजराज-प्रथम एवं राजेंद्र-प्रथम की उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इस पाठ में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं पर प्रकाश डालते हुए वास्तुकला की द्रविड़ शैली और मूर्तिकला के विकास में चोल कलाकारों के योगदानों का मूल्यांकन किया गया है। अंत में चोलों की समुद्रवर्ती गतिविधियों के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

2.2.2. प्रस्तावना

चोल राजवंश सुदूर दक्षिण में स्थापित प्राचीन राजवंशों में एक था। संगम युग में इस राजवंश ने कई महत्वपूर्ण शासकों को जन्म दिया, किंतु इसके बाद इसका पतन हो गया। नौवीं सदी के मध्य में एक बार पुनः इस राजवंश का उत्थान हुआ और शीघ्र ही इसने स्वयं को दक्षिण भारत में एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्थापित कर लिया। इस वंश के राजाओं ने दीर्घ अवधि तक एक विस्तृत भूभाग पर शासन किया, जिसके अंतर्गत तुंगभद्रा नदी के दक्षिण में अवस्थित लगभग सभी प्रदेशों के अतिरिक्त अरब सागर और हिंद महासागर में अवस्थित कई द्वीप सम्मिलित थे। इस राजवंश ने दक्षिणी भारतीय राजशासन और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2.2.3. उद्भव

पल्लवों के पतन के पश्चात् लगभग 850 ई. से 1250 ई. तक दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप में चोल राजवंश ने शासन किया। इस अवधि में दक्षिण भारत में राजनैतिक एकता की स्थापना हुई तथा चोल राजवंश का साम्राज्यिक शक्ति के रूप में उत्थान हुआ। चोल शासकों का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के अभिलेखों में हुआ है। इनमें इनका उल्लेख चेर एवं पांड्य शासकों के साथ हुआ है जिनके अशोक के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध थे। इसके बाद चोल शासकों का उल्लेख संगम साहित्य में हुआ है। किंतु संगम युग के बाद चोलों का विघटन हो गया और उन्हें विस्मृत कर दिया गया।

चोल नाम की उत्पत्ति के विषय में हमें कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है। एक विद्वान इसे पांड्य और चेर राजवंशों की तरह एक अति प्राचीन और प्रसिद्ध राजवंश का नाम मानते हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार, चोल शब्द की व्युत्पत्ति तमिल 'चूल' से हुई है, जिसका अर्थ 'मँडराना' होता है। इस आधार पर उनका निष्कर्ष है कि चोल से तात्पर्य 'मँडराने वाला' से है। कुछ इतिहासकार चोल का संबंध तमिल 'चोलम्' से जोड़ते हैं, जिसका अर्थ 'बाजरा' होता है, तो अन्य इसे संस्कृत 'चोर' से संबद्ध करते हैं। कर्नल जेरिनि चोल का संबंध 'कोल' से जोड़ते हैं, जिससे दक्षिण भारत में आर्यों के पूर्व निवास करने वाली श्याम वर्ण की एक जाति का बोध होता था। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि इस नाम की उत्पत्ति चाहे जैसे भी हुई हो, इतना सत्य है कि अति प्राचीन काल से चोल शब्द से चोलवंश द्वारा शासित देश और प्रजा दोनों का अर्थ ग्रहण किया जाता रहा है।

2.2.4. विजयालय द्वारा स्थापित राजवंश के प्रारंभिक शासक

नौवीं सदी के मध्य में विजयालय (850 ई.-875 ई.) के नेतृत्व में चोल शक्ति का पुनरूत्थान हुआ। विजयालय ने अपना शासन पल्लवों के सामंत के रूप में उरैयुर के आस-पास प्रारंभ किया था। उसकी एक महत्वपूर्ण सैन्य उपलब्धि थी- तंजोर अथवा तजावूर पर विजय, जिसपर पांड्यों के सामंत पुतरैपुर का अधिकार था। उसने तंजोर को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ निशुंभसूदिनी मंदिर का निर्माण करवाया। विजयालय का उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम (875-907 ई.) था, जिसने पल्लवों पर आक्रमण कर अंतिम पल्लव शासक अपराजित की हत्या कर दी और इस प्रकार पल्लवों के राज्य पर चोलों का अधिकार स्थापित हो गया। आदित्य प्रथम ने कांची को अपनी सहायक राजधानी के रूप में विकसित किया।

आदित्य प्रथम का उत्तराधिकारी परांतक प्रथम था, जिसने पांड्य राजा राजसिंह पर आक्रमण कर मदुरै पर अधिकार कर लिया और इस विजय के उपलक्ष्य में उसने मदुरैकोंड (मदुरै का विजेता) की उपाधि धारण की। अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में परांतक प्रथम को राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय द्वारा पराजित होना पड़ा, जिसने तंजोर पर अधिकार कर लिया। इसी क्रम में तक्कोलम के युद्ध में परांतक का ज्येष्ठ पुत्र राजादित्य मारा गया। परांतक प्रथम ने श्रीनिवासनल्लूर में कोरंगनाथ का मंदिर बनवाया।

परांतक की मृत्यु के पश्चात् चोलों का इतिहास स्पष्ट नहीं है। इस अवधि में सुंदर चोल का उल्लेख है, जो परांतक प्रथम का पौत्र था और जिसके विषय में कहा जाता है कि उसने राष्ट्रकूटों को पराजित कर तोंडमंडलम को पुनः अपने अधिकार में ले लिया।

2.2.5. राजराज-प्रथम (985 ई.-1014 ई.)

राजराज प्रथम, जो अपने शासनकाल के आरंभिक वर्षों में राजकेसरी अरूमोलिवर्मन के नाम से जाना जाता था, सुंदर चोल का पुत्र था। उसके राज्यारोहण से चोल राजवंश का सर्वाधिक गौरवपूर्ण अध्याय प्रारंभ होता है। उसने अपने शासनकाल का प्रारंभ चेरों, पांड्यों एवं उनके सहयोगी श्रीलंका के राजा, महिंद पंचम के विरुद्ध आक्रमणों से किया। उसने सर्वप्रथम कंडलूर एवं त्रिवेंद्रम पर आक्रमण करके चेरों की नौसेना को नष्ट कर दिया। राजराज प्रथम की विजय का विस्तारपूर्वक वर्णन करने वाले तिरूवालंगाडु ताम्रपत्रों से पता चलता है कि इसके बाद राजराज ने पांड्य राजा, अमरभुजंग को बंदी बना लिया। अंत में उसने श्रीलंका पर आक्रमण कर उसकी राजधानी अनुराधापुर को नष्ट कर दिया। उसने श्रीलंका के उत्तरी भाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया और उसे एक प्रांत के रूप में गठित किया। इन नए प्रांत का नाम रखा गया मुम्मदीचोलमंडलम और पोलोन्नरूवा इसकी राजधानी बनाई गई। इस विजय के फलस्वरूप श्रीलंका में तमिल संस्कृति का प्रसार हुआ और इसके साथ ही इसके तमिलों और श्रीलंका के बीच भावी संघर्ष की नींव पड़ी।

चेर, पांड्य एवं श्रीलंका की विजय के मूल में आर्थिक कारण था। मालाबार तट एवं कोरोमंडल तट भारत एवं दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के बीच होने वाले व्यापार के प्रमुख केंद्र थे। राजराज प्रथम इस व्यापार को अपने नियंत्रण में लेना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने अपने शासनकाल के अंतिम चरण में मालदीव पर भी नौसैनिक विजय प्राप्त की थी। अन्य बातों के अतिरिक्त यह नौसैनिक विजय इस बात का पर्याप्त संकेत देती है कि चोल नौसेना का संगठन राजराज प्रथम के शासनकाल में ही हो चुका था, जिसका राजेंद्र प्रथम ने प्रभावशाली ढंग से प्रयोग किया। नीलकंठ शास्त्री की मान्यता है कि ''अनेक दृष्टियों से राजेंद्र प्रथम का अपने महान पिता राजराज प्रथम के साथ वही संबंध था, जो मेसीडोन के फिलिप का सिकंदर महान के साथ था।''

चोल राजवंश का राजनैतिक इतिहास कल्याणी के चालुक्यों के साथ उसके सतत संघर्ष का इतिहास है। कल्याणी के चालुक्य राजवंश का संस्थापक तैल-द्वितीय अथवा तैलप था। वह प्रारंभ में राष्ट्रकूटों का सामंत था। उसने 973 ई. में राष्ट्रकूट राजा कर्क-द्वितीय को पराजित कर चालुक्य राजवंश की आधारशिला रखी। चोल राजवंश और चालुक्यों के बीच संघर्ष के कई कारण थे। सबसे पहला कारण यह था कि दोनों राजवंश कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदी के मध्य स्थित रायचूर दोआब पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। दूसरा कारण वेंगी अथवा रायलसीमा पर अपना अधिकार स्थापित करने की उनकी नीति थी। उल्लेखनीय है कि गोदावरी एवं कृष्णा नदी का यह डेल्टा प्रदेश अपनी उर्वरता की दृष्टि से संपूर्ण दक्षिण भारत में अद्वितीय था। अंत में, कर्नाटक के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित गंग देश पर भी चोल और चालुक्य, दोनों ही राजवंश अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे।

992 ई. के एक चालुक्य अभिलेख में तैलप-द्वितीय यह दावा करता है कि उसने एक युद्ध में राजराज चोल पर विजय प्राप्त की और उससे 150 हाथी छीन लिए। 997 ई. में तैलप की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र सत्याश्रय कल्याणी में सिंहासनारूढ़ हुआ। राजराज के शासनकाल के परवर्ती अभिलेखों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि उसने सत्याश्रय को पराजित किया। मालवा के परमारों के साथ शत्रुता के कारण पश्चिमी चालुक्यों पर उत्तर की ओर से भी बहुत अधिक दबाव था और दो विपरीत दिशाओं से आक्रमण करने वाले दो शक्तिशाली शत्रुओं के विरुद्ध पैर जमाए रखना उनके लिए अत्यंत कठिन रहा होगा। तिरूवालंगाडु ताम्रपत्रों से विदित होता है कि सत्याश्रय राजराज की सागर जैसी सेना का मुकाबला करने में असमर्थ रहा और पराजित हो गया। परवर्ती चोल राजाओं के शासनकाल में भी चोल

और चालुक्य राजवंशों के बीच इस प्रकार के संघर्ष होते रहे। किंतु इनमें दोनों में से किसी को भी कोई लाभ नहीं हुआ। वस्तुतः इन संघर्षों ने दोनों को आर्थिक रूप से खोखला कर दिया और उनकी अवनति का मार्ग प्रशस्त किया।

राजराज-प्रथम वेंगी को भी अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था। उस समय वेंगी गृहयुद्ध की गिरफ्त में था। वहाँ जटा चोड भीम का शासन था, जो अनधिकृत रूप से शासन कर रहा था। उसका विरोध शक्तिवर्मन कर रहा था, जो वेंगी के सिंहासन का सही दावेदार था। राजराज ने इस अवसर का लाभ उठाया और उसने भीम को पराजित कर शक्तिवर्मन को वेंगी में सिहासनारूढ़ किया। राजराज चोल की इस मदद के परिणामस्वरूप शक्तिवर्मन (999-1011 ई.) ने राजराज चोल की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। इसके अतिरिक्त इस मित्रता के प्रतीक स्वरूप राजराज की पुत्री कुंडवा का विवाह शक्तिवर्मन के अनुज और उत्तराधिकारी विमलादित्य के साथ संपन्न किया गया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वेंगी को चोल राज्य का अंग नहीं बनाया गया, उसके पृथक राजनीतिक अस्तित्व को भी समाप्त नहीं किया गया और न ही उसपर चोलों की प्रशासनिक व्यवस्था लादी गई। किंतु नीलकंठ शास्त्री का यह मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि वेंगी को चोल साम्राज्य के अंतर्गत एक संरक्षित राज्य का दर्जा मिला। यह व्यवस्था कल्याणी के चालुक्यों के लिए असह्य थी और सत्याश्रय ने इसका विरोध भी किया। इतिहासकारों का मत है कि इसके बाद से ही वेंगी चोलों और पश्चिमी चालुक्यों के बीच कलह का मूल कारण बन गया और अगली दो सदी से भी अधिक समय के लिए यहाँ उनके बीच कई युद्ध हुए।

राजराज वह प्रथम तमिल राजा था, जिसने अपने शासन की प्रमुख घटनाओं का आधिकारिक विवरण निश्चित शब्दों में निबद्ध करने के विचार को जन्म दिया। यह विवरण उसके अभिलेखों में प्रस्तावना के रूप में पाया जाता है। चोल सिंहासन पर बैठने वाले उसके बाद के लगभग सभी राजाओं ने ऐसा ही किया। चोल अभिलेखों की ये आधिकारिक ऐतिहासिक प्रस्तावनाएँ संबद्ध चोल राजाओं की खोज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

राजराज ने भूमि एवं वित्त से संबंधित कई महत्वपूर्ण सुधार किए। सर्वप्रथम उसने भूराजस्व के निर्धारण के लिए 1000 ई. में राज्य की संपूर्ण भूमि की माप करवाई। इसके साथ ही उसने स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को बढ़ावा दिया और ग्राम-सभाओं तथा अन्य स्थानीय निकायों के वित्तीय अंकेक्षण का प्रबंध किया। उसने कृषि को भी बढ़ावा दिया और नए-नए क्षेत्रों को कृषियोग्य बनाने के लिए कई कदम उठाए।

राजराज चोल ने तंजोर में शिव का एक मंदिर बनवाया। इसे बृहदीश्वर अथवा राजराजेश्वर मंदिर कहते हैं, जिसकी दीवारों पर राजराज की उपलब्धियों का विस्तृत विवरण है। यह मंदिर तमिल स्थापत्य कला के चरमोत्कर्ष का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यह अपने विशाल आकार और डिजाइन की सरलता दोनों के लिए प्रसिद्ध है। राजराज शैव था, पर वह अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखता था। तंजोर स्थित बृहदीश्वर मंदिर की दीवारों पर बनी सजावटी मूर्तियाँ और उसके अभिलेखों में विष्णु मंदिरों का उल्लेख उसकी उदार धार्मिक नीति के प्रमाण हैं। इसके साथ ही उसने दक्षिण पूर्व एशिया में अवस्थित श्रीविजय साम्राज्य के शैलेंद्र शासक श्रीमार विजयोतुंगवर्मन को नागपट्टम में न सिर्फ एक बौद्ध विहार बनाने की अनुमति प्रदान की, बल्कि उसके रखरखाव के लिए आनैमंगलम नामक एक गाँव अनुदान में भी दिया। उल्लेखनीय है कि शैलेंद्र वंश के शासक बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने कई स्तूपों और चैत्यों का निर्माण करवाया, जिनमें जावा स्थित बोरोबोदुर का महाचैत्य सबसे महत्वपूर्ण है।

2.2.6. राजेंद्र-प्रथम (1014 ई.-1044 ई.)

राजराज-प्रथम का उत्तराधिकारी राजेंद्र-प्रथम था। राजेंद्र-प्रथम के शासनकाल की गणना 1012 ई. से की जाती है। इसी वर्ष उसे राजराज-प्रथम द्वारा युवराज घोषित किया गया था। लगभग दो वर्षों तक उसने अपने पिता के साथ संयुक्त रूप से शासन किया। उसका राज्याभिषेक 1014 ई. में संपन्न हुआ। अपने पिता राजराज-प्रथम द्वारा स्थापित परंपरा का अनुसरण करते हुए उसने भी 1018 ई. में अपने पुत्र राजाधिराज को युवराज घोषित किया।

राजेंद्र-प्रथम ने संपूर्ण श्रीलंका पर विजय पाई। महेन्द्र-पंचम को बंदी बनाकर चोल राज्य में लाया गया, जहाँ 12 वर्षों बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र, कस्यप चोलों के विरुद्ध सिंहली विरोध का केंद्र बना और एक दीर्घकालीन युद्ध के पश्चात् जिसमें सिंहलियों द्वारा भारी संख्या में तमिल चोलों को मारा गया, वह श्रीलंका के दक्षिणी भाग, अर्थात् रोहण का राजा बना और उसने विक्रमबाहु-प्रथम के रूप में शासन किया। राजेंद्र-प्रथम ने चेर और पांड्य राज्यों पर भी विजय प्राप्त की। उसने उन्हें अपने राज्य में मिला लिया और अपने एक पुत्र को संयुक्त रूप से दोनों प्रदेशों का प्रशासक नियुक्त किया।

चालुक्य अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कल्याणी का शासक जयसिंह-द्वितीय चालुक्य जो 1016 ई. के आसपास कल्याणी में सिंहासनारूढ़ हुआ था, राजराज-प्रथम के शासनकाल में हुए युद्ध में चोलों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील था। 1019 ई. के बेलगाँवे अभिलेख में उसे चोलों को पराजित करने वाला बताया गया है। इस बात की पुष्टि बेलारी और मैसूर के उत्तर-पश्चिम में उपलब्ध उसके अभिलेखों से भी होती है। किंतु चोल अभिलेखों से पता चलता है कि 1022 ई. के आस-पास मुसंगी अथव मुयंगी में राजेंद्रप्रथम एवं जयसिंह-द्वितीय के बीच एक युद्ध हुआ था, जिसमें जयसिंह-द्वितीय पराजित हुआ। इतिहासकारों का मत है कि इस युद्ध का चाहे जो भी परिणाम रहा हो, इतना तय है कि इसके बाद दोनों राजाओं ने तुंगभद्रा नदी को अपने-अपने राज्य की सीमा मान लिया।

राजेंद्र चोल के समय में वेंगी ने पुनः चोल-चालुक्य संघर्ष के लिए अवसर प्रदान किया। 1019 ई. में वेंगी के शासक विमलादित्य की मृत्यु के पश्चात् कल्याणी के जयसिंह-द्वितीय चालुक्य ने विमलादित्य और कुंडवा के पुत्र राजराज विष्णुवर्धन के विरुद्ध उसके सौतेले भाई विष्णुवर्धन विजयादित्य-सप्तम का समर्थन किया। ऐसी स्थिति में राजराज विष्णुवर्धन ने राजेंद्र चोल-प्रथम की मदद से अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय पाई। इतिहासकारों का मत है कि कलिंग और ओड्ड के राजा भी जयसिंह-द्वितीय चालुक्य और उसके आश्रित विजयादित्य-सप्तम के साथ मिल गए थे और चोल सेना को उनसे भी निपटना पड़ा।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि 1022 ई. में राजेंद्र-प्रथम का उत्तर भारतीय सैन्य अभियान गंगा की तीर्थयात्रा से अधिक कुछ नहीं था, किंतु नीलकंठ शास्त्री इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि यद्यपि गंगाजल लाने की बात इस अभियान के प्रारंभिक उद्देश्यों में थी, फिर भी उसका प्रधान उद्देश्य चोल साम्राज्य की शक्ति का प्रदर्शन तथा उत्तरी भारत के राजाओं को उसके बल का अहसास कराना था।

इस अभियान की समाप्ति पर राजेंद्र चोल ने गंगईकोंडचोल की उपाधि धारण की और कावेरी नदी के मुहाने पर गंगईकोंडचोलपुरम नामक नगर की स्थापना की। राजेंद्र-प्रथम को अपनी इस नई राजधानी से अपार स्नेह था। यहाँ उसने विशाल बृहदीश्वर मंदिर का निर्माण करवाया। राजेंद्र की इस

राजधानी को संस्कृत में गंगापुरी कहा गया है। इसके उत्तर में एक विशाल सरोवर था, जिसे तिरूवालंगाडु ताम्रपत्रों में चोल गंगम कहा गया है।

राजेंद्र-प्रथम के उत्तरी एवं समुद्रगुप्त के दक्षिणी अभियानों में दो दृष्टियों से समानता पाई जाती हैं। एक तो यह कि दोनों राजाओं ने एक ही मार्ग का अनुसरण किया और दूसरा यह कि दोनों राजाओं में से किसी की विजय स्थायी सिद्ध नहीं हो सकी, किंतु इसके बावजूद राजेंद्र चोल के आक्रमण ने बंगाल पर कुछ स्थायी प्रभाव छोड़े। आर.डी. बनर्जी कहते हैं कि एक अल्पज्ञात कर्नाट सरदार ने राजेंद्र चोल-प्रथम का अनुसरण किया और वह पश्चिम बंगाल में बस गया। सामंत सेन उसी का वंशज था, जिसे सेन वंश का संस्थापक माना जाता है।

राजेंद्र चोल के शासनकाल के अंतिम वर्षों में 1042 ई. के आसपास कल्याणी के शासक सोमेश्वर-प्रथम (1042 ई.-1068 ई.) ने वेंगी पर आक्रमण कर दिया। वेंगी के शासक, राजराज विष्णुवर्धन ने एक बार फिर राजेंद्र-प्रथम से सहायता माँगी। राजेंद्र-प्रथम ने इस बार अपने पुत्र राजाधिराज-प्रथम को वेंगी भेजा। यदि चोल अभिलेखों में उल्लिखित दावों को सही मान लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि राजाधिराज के नेतृत्व में चोल सेना ने चालुक्यों को कई स्थानों में पराजित किया। किंतु इस काल के अन्य अभिलेखों से वेंगी पर सोमेश्वर-प्रथम के शासन की पुष्टि होती है। इसलिए इस बात की संभावना अधिक है कि राजराज विष्णुवर्धन ने चोलों का साथ छोड़ दिया और सोमेश्वर-प्रथम से संधि कर ली।

राजेंद्र-प्रथम दक्षिण पूर्व एशिया में अवस्थित श्रीविजय साम्राज्य के विरुद्ध अपने नौसैनिक अभियान के लिए ख्यात है। इस अभियान में चोल नौसेना ने राजधानी श्रीविजय एवं कडारम सहित कई स्थानों पर विजय प्राप्त की। राजा संग्राम विजयोतुंगवर्मन बंदी बना लिया गया, किंतु उसे चोलों का प्रभुत्व स्वीकार कर लेने की शर्त पर रिहा कर दिया गया और उसे उसका राज्य वापस कर दिया गया। राजराज-प्रथम के समय एवं राजेंद्र-प्रथम के शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में श्रीविजय एवं चोल साम्राज्य के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध थे। फिर भी राजेंद्र-प्रथम ने श्रीविजय पर आक्रमण किया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि राजेंद्र-प्रथम दक्षिण पूर्व एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। किंतु, अन्य इतिहासकार इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार राजेंद्र-प्रथम के शासनकाल में श्रीविजय साम्राज्य ने भारत और चीन के बीच व्यापार के मार्ग में कोई बाधा खड़ी कर दी थी। इसी कारण राजेंद्र-प्रथम और श्रीविजय साम्राज्य के बीच युद्ध की स्थिति बनी।

कंरदै ताम्रपत्रों से विदित होता है कि राजेंद्र-प्रथम ने कंबुज से मैत्रीपूर्ण संबंध रखे। कंबुज एक हिंदू राज्य था जिसकी स्थापना भारतीयों द्वारा आधुनिक कंबोडिया में की गई थी। जनश्रुतियों के अनुसार, इस राज्य की स्थापना कौण्डिन्य नामक एक भारतीय ने दूसरी सदी में की थी। राजेंद्र-प्रथम के समय कंबुज में सूर्यवर्मन-प्रथम (1002-50 ई.) का शासन था। यहीं विष्णु को समर्पित अंकोरवट का मंदिर है, जिसका निर्माण सूर्यवर्मा-द्वितीय (1050-66 ई.) ने करवाया था।

अपने पिता, राजराज-प्रथम की भाँति राजेंद्र-प्रथम की भी कई उपाधियाँ थीं। उनमें मुडिगोंड चोल, पंडित चोल, विक्रमचोल आदि उल्लेखनीय हैं। उसे एक स्थान पर वीर राजेंद्र भी कहा गया है। लेकिन स्वयं राजेंद्र-प्रथम की राय में इन सबसे श्रेष्ठ गंगैकोंडचोल की उपाधि थी। इस नाम से यह सूचित होता है कि उसने जो नई राजधानी स्थापित की थी, उससे उसे गहरा लगाव था।

2.2.7. राजेंद्र-प्रथम के उत्तराधिकारी

राजेंद्र-प्रथम का उत्तराधिकारी राजाधिराज-प्रथम (1044-52 ई.) था। राजाधिराज-प्रथम के शासनकाल की एक महत्वपूर्ण सैन्य उपलब्धि पांड्य एवं चेरों पर उसकी विजय थी, जिन्होंने लंका के राजा विक्रमबाहु-प्रथम के साथ मिलकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इतिहासकारों का मत है कि अपने इन विरोधियों पर विजय के उपलक्ष्य में ही उसने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया। किसी चोल शासक द्वारा कोई वैदिक यज्ञ संपन्न किए जाने का यह अकेला उदाहरण है।

राजाधिराज-प्रथम ने कल्याणी के चालुक्य राजा सोमेश्वर-प्रथम को दो बार पराजित किया। एक बार तो वह आक्रमण करता हुआ कल्याणी तक जा पहुँचा, जहाँ उसने वीराभिषेक (विजयी राजा का अभिषेक) समारोह का आयोजन किया और 'विजय राजेंद्र' की उपाधि धारण की। अपने शासनकाल के अंत में राजाधिराज-प्रथम ने एक बार फिर सोमेश्वर-प्रथम पर आक्रमण किया। किंतु इस बार कोप्पम के युद्ध में वह मारा गया। इस युद्ध में चोलों की सेना लगभग हार के कगार पर ही थी। पर राजाधिराज-प्रथम के अनुज राजेंद्र-द्वितीय ने, जो इस युद्ध में राजाधिराज-प्रथम के साथ था, अपने युद्ध कौशल से इस पराजय को अंततः विजय में परिवर्तित कर दिया और एक बार फिर सोमेश्वर-प्रथम की पराजय हुई।

राजाधिराज-प्रथम का उत्तराधिकारी राजेंद्र-द्वितीय (1052-63 ई.) था। कोप्पम के युद्ध मैदान में ही उसका राज्याभिषेक किया गया था। उसके शासनकाल में भी चोल-चालुक्य संघर्ष जारी रहा। चोल अभिलेखों के अनुसार राजेंद्र-द्वितीय चालुक्यों पर आक्रमण करता हुआ कोल्हापुर तक जा पहुँचा था, जहाँ उसने एक जयस्तंभ की स्थापना की थी। किंतु विक्रमांकदेवचरित के लेखक बिल्हण के अनुसार सोमेश्वर-प्रथम ने कांची को ध्वस्त कर दिया था। संभवतः दोनों में से किसी ने भी कोईस्थायी विजय प्राप्त नहीं की।

राजेंद्र-द्वितीय का उत्तराधिकारी वीर राजेंद्र (1063-70 ई.) था। उसके समय में भी चालुक्यों के साथ चोलों की पारंपरिक प्रतिद्वंद्विता जारी रही। उसने कृष्णा एवं तुंगभद्रा के संगम पर कुदाल संगम के युद्ध में सोमेश्वर को पराजित किया। वीर राजेंद्र का उत्तराधिकारी अधिराजेंद्र था, जिसने कुछ महीने ही शासन किया। एक जनविद्रोह में उसकी हत्या कर दी गई।

2.2.8 कुलोत्तुंग-प्रथम (1070 ई.-1122 ई.) एवं उसके उत्तराधिकारी

अधिराजेंद्र संतानहीन था। उसकी मृत्यु के पश्चात् चोल साम्राज्य में असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो गई। ऐसी स्थिति में वेंगी के चालुक्य वंश के राजा राजेंद्र-द्वितीय चालुक्य यह दावा करके कि उसकी माता, अमंग देवी राजेंद्र-प्रथम चोल की पुत्री थी, तंजोर में सिंहासनारूढ़ हो गया। इस प्रकार, अधिराजेंद्र की मृत्यु के साथ ही मूल चोल राजवंश का अंत होगया और चोल साम्राज्य पर वेंगी के पूर्वी चालुक्यों का अधिकार स्थापित हो गया। कुछ इतिहासकारों ने इस राजवंश को चोल-चालुक्य राजवंश कहा है जिसका संस्थापक कुलोत्तुंग था। इसके साथ ही कुलोत्तुंग ने वेंगी के स्वतंत्र अस्तित्व को समाप्त कर उसे चोल राज्य का एक प्रांत बना दिया।

कुलोत्तुंग-प्रथम के शासनकाल में उसके सेनापति करूणाकर तौण्डैमान के नेतृत्व में चोल सेना ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। चोलों की इस विजय का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला, किंतु इसने जयगोंदार की कविता 'कलिंगतुप्परणी' के लिए एक विषय जरूर प्रदान किया।

कुलोत्तुंग एक शैव था। पर उसने नागपट्टम स्थित बौद्ध विहारों को उदारतापूर्वक अनुदान दिया था। फिर भी, वह वैष्णव संत रामानुज का विरोधी था, जिन्हें श्रीरंगम छोड़ने पर विवश होना पड़ा और मैसूर में होयसल बिट्टिग विष्णुवर्द्धन की शरण में जाना पड़ा।

कुलोतुंग-प्रथम का उत्तराधिकारी विक्रमचोल (1122-33 ई.) था। वह एक वैष्णव था, जिसके शासनकाल में रामानुज चोल राज्य में वापस आए। किंतु वह तथा उसके उत्तराधिकारी, कुलोत्तुंग-द्वितीय (1133-47 ई.), राजराज-द्वितीय (1147-62 ई.), राजाधिराज-द्वितीय (1162-78 ई.) तथा कुलोत्तुंग-तृतीय (1178-1216 ई.) कमजोर शासक सिद्ध हुए। उनके शासनकाल में चोलों की शक्ति का तेजी से ह्रास हुआ। कुलोत्तुंग-तृतीय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजराज-तृतीय (1216-52) के शासनकाल में मारवर्मन सुंदर पांड्य द्वारा तंजोर पर अधिकार कर लिया गया और राजराजतृतीय को बंदी बना लिया गया। राजराज-तृतीय ने तत्कालीन होयसल राजा से मदद माँगी, तभी वह छूट सका।

1246 ई. में राजराज-तृतीय एवं राजेंद्र-तृतीय। के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया। इसका लाभ उठाकर द्वारसमुद्र के होयसलों, वारंगल के काकतीयों और मदुरै के पांड्यों ने चोल राज्य के अधिकांश क्षेत्रोंपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। चोल राज्य का अंतिम शासक राजेंद्र-तृतीय। (1257-1267 ई.) था, जिसके शासनकाल में जटावर्मन सुंदर पांड्य द्वारा चोल राज्य के विस्तृत भूभाग पर अधिकार कर लिया गया। इसके कुछ वर्ष बाद ही चोल राजवंश का सदा के लिए अंत हो गया।

2.2.9 प्रशासन एवं स्थानीय स्वशासन

चोल साम्राज्य का शासन प्रबंध राजतंत्रात्मक था, किंतु इस काल में संगम युग की भाँति राज्य छोटे-छोटे नहीं थे, जिनके राजा एक प्रकार से कबीलों के सरदार हुआ करते थे। राजराज-प्रथम और राजेंद्र-प्रथम के शासनकाल में चोल राज्य ने एक साम्राज्य का रूप धारण कर लिया था। तदनुसार, राजतंत्र की संकल्पना में परिवर्तन हुआ। अब राजा किसी कबीले का सरदार न रहकर सम्राट था। यद्यपि राजकीय अभिलेखों में उसका उल्लेख 'उदैयार' के रूप में ही हुआ है, पर अपने सार्वजनिक जीवन में वह 'चक्रवर्तिगल' के रूप में जाना जाता था।

इतना ही नहीं, राजा को 'देवराज' मानकर देवता की भाँति उसकी पूजा और उपासना की जाने लगी। समाज में इस प्रथा को कई तरह से प्रोत्साहित किया गया। सबसे पहले तो मृत राजाओं की उपासना पर बल दिया गया। दूसरे, ऐसे कई मंदिर बनवाए गए, जो वस्तुतः मृत राजाओं के स्मारक थे। इनके अतिरिक्त कई मंदिरों तथा उनमें स्थापित मुख्य प्रतिमा का नामकरण उन राजाओं के नाम पर किया गया, जिन्होंने उनका निर्माण करवाया था।

उपर्युक्त सभी तथ्य स्पष्ट संकेत देते हैं कि साम्राज्य-युग में राजा की राजनीतिक प्रतिष्ठा में पहले की अपेक्षा काफी वृद्धि हो चुकी थी। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अब राज्याभिषेक ने एक भव्य समारोह का रूप धारण कर लिया था और इस अवसर पर राजवंश द्वारा अद्वितीय उदारता और दानशीलता का प्रदर्शन किया जाने लगा। चोल राजाओं ने इस समारोह का आयोजन अपनी राजधानी तंजोर के अतिरिक्त कांची एवं गंगैकोंडचोलपुरम में भी किया।

चोल राजवंश में उत्तराधिकार संबंधी विवाद अज्ञात नहीं थे, यद्यपि सामान्य परिस्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त होता था। जहाँ तक राजाधिराज-प्रथम का संबंध है, वह राजेंद्र-प्रथम का सबसे बड़ा पुत्र नहीं था, बल्कि उसे उसकी योग्यता के कारण ही राजेंद्र-प्रथम के द्वारा युवराज घोषित किया गया था। राजराज-प्रथम ने इस दिशा में एक नया प्रयोग किया। उसने अपने जीवनकाल में

ही अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत कर उसे प्रशासनिक कार्यों के साथ संबद्ध करने की परंपरा प्रारंभकी। बाद के राजाओं ने भी यह परंपरा जारी रखी, जिसके फलस्वरूप चोलों के इतिहास में उत्तराधिकार का युद्ध प्रायः नहीं के बराबर हुआ।

चोल राजा मौखिक आदेशों द्वारा अपनी भूमिका का निर्वाह करते थे। इन्हें 'तिरूवाक्य केल्वि' कहते थे। किंतु इन आदेशों को प्राप्त करने और उन्हें कार्यान्वित करने से पूर्व एक विस्तृत प्रक्रिया का अनुपालन करना पड़ता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजा के निकट 'ओलै' नामक अधिकारियों का एक वर्ग था। इन्हीं में से कोई एक राजा के मौखिक आदेश को लिपिबद्ध करता था। फिर इसकी जाँच 'ओलैनायगम' नामक अधिकारी के द्वारा की जाती थी, ताकि इसमें कोई लिपिकीय त्रुटि न रह जाए। इसके बाद यह आदेश राजकीय पंजियों में पंजीकृत होकर संबद्ध स्थानीय संस्थाओं के पास कार्यान्वयन हेतु भेज दिया जाता था। स्थानीय संस्थाओं को दिए जाने वाले ऐसे आदेशों को 'तिरूयुगम' अथवा 'श्रीमुख' कहते थे।

चोल प्रशासन में राजगुरू की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका थी। वह लौकिक एवं धार्मिक मामलों में राजा का सलाहकार होने के साथ ही राजा का अंतरंग एवं पापस्वीकरण पुरोहित भी होता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि धार्मिक संस्थाओं के प्रबंध में राजा पूरी तरह अपने राजगुरू के परामर्श से ही कार्य करता था। उदाहरणार्थ, एक पुजारी की मृत्यु के पश्चात् तिरूक्कहैयूर के मंदिरों की पूजा के लिए कुलोत्तुंग ने एक वैकल्पिक व्यवस्था की थी किंतु उसके राजगुरू ने इसे पसंद नहीं किया। जब राजा को यह बात ज्ञात हुई तो उसने अपने आदेश को परिवर्तित कर उन लोगों की नियुक्ति की, जिनकी राजगुरू ने अनुशंसा की थी।

इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि राजा की सहायता के लिए स्थायी रूप से गठित कोई मंत्रिपरिषद थी। अभिलेखों से 'उडन-कूट्टम' नाम की एक सभा के अस्तित्व का पता चलता है। यह उन अधिकारियों की सभा थी, जो राज्य के मुख्य विभागों के प्रमुख थे और राजा के निकट रहकर उसे उसके कार्य-निष्पादन में सलाह देकर सहयोग करते थे। कुछ इतिहासकारों के अनुसार 'उडन-कूट्टम' अधिकारियों की सभा न होकर राजा के निजी सहायकों का समूह था, जो नियमित कर्मचारी तंत्र और राजा के बीच संपर्क का कार्य करता था।

अभिलेखों से पता चलता है कि राज्य के अधिकारियों की दो कोटियाँ थीं– 'पेरूंदरम' और 'शिरूदनम'। उच्च अधिकारियों को 'पेरूंदरम' कहा जाता था, जबकि 'शिरूदनम' निम्न कोटि के अधिकारी थे। सरकारी पद धीरे-धीरे आनुवंशिक होते गए और राज्य की सैनिक और असैनिक सेवा में कभी कोई भेद ही नहीं किया गया। हमें इस बात की कोई ठोस जानकारी नहीं है कि अधिकारियों की नियुक्ति और उनकी पदोन्नति की क्या पद्धति थी। नियुक्ति के समय वंश का महत्व अवश्य होता होगा। बाद में योग्यता और कार्यकुशलता पर विचार के पश्चात् पदोन्नति दी जाती रही होगी। राजकीय अधिकारियों को पारिश्रमिक के रूप में भूखंड दिए जाते थे। उस समय राजकोष से नगद वेतन देने की प्रथा नहीं थी किंतु, 'जीवित' के रूप में भूखंडों का स्वामित्व नहीं दिया जाता था। भूखंडों पर स्वामित्व उनके जोतने वाले या ग्राम-समाज का होता था। केंद्रीय सरकार को उन भूखंडों से जो कर आदि ग्रहण करने का अधिकार होता था, 'जीवित' के रूप में वही अधिकार दिए जाते थे। कभी-कभी 'जीवित' में पूरा गाँव या जिला ही दे दिया जाता था।

प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से चोल साम्राज्य कई इकाइयों में विभक्त था। सबसे छोटी इकाई 'गाँव' थी। कई गाँवों को मिलाकर 'कुर्रम' या 'नाडु' बनता था। कहीं-कहीं इसे ही 'कोट्टम' कहते थे।

कुछ अभिलेखों में 'तनियूर' शब्द का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं इसके विकल्प में 'तन-कुरू' जैसे शब्द मिलते हैं। इतिहासकारों के अनुसार, 'तनियुर' अथवा 'तन-कुरू' एक बड़ा गाँव था जो 'कुर्रम' अथवा 'बाडु' से मिलकर 'वनवाडु' बनता था। 'वनवाडु' से बड़ी इकाई 'मंडलम' कहलाती थी। यह प्रांत के समान थी। राजराज के शासनकाल में इस प्रकार के आठ या नौ 'मंडलमों' का उल्लेख है। इसमें लंका भी एक 'मंडलम्' था।

राजस्व प्रशासन

भूराजस्व, जिसका अभिलेखों में 'पुरवुवरि' के रूप में उल्लेख हुआ है, सरकार की आय का सर्वप्रमुख स्रोत था। भूमि संबंधी अधिकारों एवं बकायों का हिसाब रखने में सरकार द्वारा बहुत सावधानी बरती जाती थी। भूमि का अत्यंत सावधानी से सर्वेक्षण किया जाता था और उसे 'करमुक्त' तथा 'करयोग्य' भूमि में वर्गीकृत किया जाता था। अभिलेखों में 'वरिप्पोत्तगम' और 'वरिप्पोत्तगम-कणक्कु' का उल्लेख हुआ है। ये राजस्व-प्रशासन की महत्वपूर्ण पंजियाँ थीं। 'वरिप्पोत्तगम' भूमि संबंधी स्वामित्व का अभिलेख था। पूरी जाँच-पड़ताल और बारीकी से सर्वेक्षण कराकर ये पंजियाँ तैयार की जाती थीं और इनमें दाखिल-खारिज के जरिए इन्हें हमेशा अद्यतन रखा जाता था। 'वरिप्पोत्तगम-कणक्कू' वह पंजी थी, जिसका आधुनिक रूप राजस्व विभाग का 'हासिल बाकी' रजिस्टर होता है। इतिहासकारों का मत है कि चोलों की राजस्व-व्यवस्था में राजस्व का रिकार्ड रखने वाले कर्मचारियों और राजस्व वसूली करने और प्रशासन चलाने वाले कर्मचारियों के बीच स्पष्ट अंतर रखा गया था। उल्लेखनीय है कि भूराजस्व का निर्धारण गाँव को संपूर्णतः एक इकाई मानकर किया जाता था। यह स्पष्ट नहीं है कि भूराजस्व कुल उत्पाद का कितना भाग था। पर राजराज-प्रथम के समय में यह कुल उत्पाद का एक तिहाई भाग था। भूराजस्व का भुगतान सुविधानुसार नगद अथवा अनाज के रूप में किया जा सकता था।

भू-राजस्व के अतिरिक्त एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने वाली वस्तुओं पर पथकर लगता था। इसे 'वलि आयम' कहते थे। सरकार द्वारा विभिन्न पेशों पर भी कर लगाए जाते थे। उदाहरण स्वरूप बुनकरों, तेलियों और व्यापारियों को क्रमशः 'तरी इरई', 'शेक्करई' और 'सेट्टीरई' नामक कर देने पड़ते थे। 'वेट्टि' जिसे उत्तर भारत में 'विष्टि' कहते थे, बेगार था। घरों एवं विवाह जैसे समारोहों पर भी कर लगते थे।

सैन्य व्यवस्था

एक कुशल राजस्व व्यवस्था की तरह चोलों की सेना भी अत्यंत दक्ष थी। अभिलेखों में सेना के कई रेजिमेंटों के नाम आए हैं, किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैन्य दल के रूप में 'आनैयाट्कल', 'कुडिरैन्जेवगर' तथा 'कैक्कोलार' का उल्लेख किया गया है। इनसे क्रमशः गजसेना, घुड़सवार सैनिक तथा पैदल सेना का बोध होता था। इसके अतिरिक्त धनुर्धरों की भी एक रेजिमेंट थी, जिसका उल्लेख अभिलेखों में 'विल्लिगल' के रूप में किया गया है। 'वैलेक्कारर' को राजा की सेवा में नियुक्त सबसे विश्वसनीय सैनिक माना जाता था। वे अपनी जान देकर भी राजा और उसके हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहते थे। 'वैलेक्कारर' के ही समकक्ष और इसी कार्य के लिए 'तेन्नवन-आपत्तुदविगले' थे, जो परवर्ती पांड्य राजाओं के यहाँ होते थे। इनके बारे में मार्को पोलो ने लिखा है कि ये सदा राजा के निकट रहते थे और राज्य में इन्हें बड़े अधिकार मिले थे। चोलों की एक सशक्त नौसेना थी। इसका प्रमाण लंका और मालदीव में चोल राज्य की स्थापना तथा चीनी साहित्य से मिलता है, जिसमें चोलों के कई दूतमंडलों के चीन जाने का उल्लेख है। राजेंद्र ने श्रीविजय और उसके अधीनस्थ राज्यों पर अपनी विजय एक विशाल जलसेना की बदौलत ही दर्ज की थी।

अभिलेखों से पता चलता है कि चोल सेना समूचे प्रदेश में छोटे-छोटे गुल्मों और 'कडगमों' में रहती थी। 'कडगम' (छावनी) के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि सेना को समय-समय पर युद्ध का अभ्यास कराया जाता था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सेना नागरिक कार्यों में भी गहरी रुचि लेती थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि सैनिक अलग-अलग अथवा सामूहिक रूप से मंदिरों की रक्षा करने के अतिरिक्त उनके लिए 'अक्षयनिधियों' का प्रबंध करते थे।

न्यायिक व्यवस्था

अधिकांश न्यायिक कार्यों का निष्पादन स्थानीय स्तर पर ही, जैसे– ग्राम न्यायालयों द्वारा कर लिया जाता था। बड़े विवाद राजा के दरबार में लाए जाते थे। कुछ अभिलेखों में 'धर्मासन' शब्द का उल्लेख हुआ है। इतिहासकारों का मत है कि यह राजा का दरबार था जहाँ बड़े विवादों के निपटारे किए जाते थे। प्रथा, दस्तावेज एवं गवाहों को साक्ष्य के रूप में स्वीकृति प्राप्त थी। विशेष परिस्थितियों में अग्नि-परीक्षा का भी आश्रय लिया जाता था। राजद्रोह को एक गम्भीर अपराध माना जाता था और इसका निपटारा स्वयं राजा के द्वारा ही किया जाता था। अपराध सिद्ध होने पर संपत्ति जब्त की जाती थी, अथवा मृत्युदंड दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिए जुर्माने तथा कारावास का प्रावधान था।

स्थानीय व्यवस्था

स्थानीय स्वशासन चोल प्रशासन की विशिष्टता थी। अब तक चोलों के सैकड़ों अभिलेख प्रकाश में आ चुके हैं, जिनसे विदित होता है कि चोलों ने एक सुदृढ़ ग्राम-प्रशासन का विकास किया। उनके गाँवों ने जिस मात्रा में स्वायत्तता का उपयोग किया, वह प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए अद्वितीय है। चोल अधिकारी गाँव के कार्यों में प्रशासक से अधिक सलाहकार और पर्यवेक्षक के रूप में भाग लेते थे। गाँवों का प्रबंध गाँववासियों के द्वारा ही किया जाता था। निश्चय ही इस प्रकार की व्यवस्था एकाएक अस्तित्व में नहीं आई होगी। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि तमिल प्रदेश में इस प्रकार की व्यवस्था की नींव आठवीं और नवीं सदी के प्रारंभ में पल्लव और पांड्य राजाओं के समय में रखी गई। उल्लेखनीय है कि मानूर नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख, जो 800 ई. का है, मानूर में व्याप्त ग्रामजीवन का जो चित्र उपस्थित करता है, वह बहुत-कुछ उत्तरमेरूर से प्राप्त परांतक-प्रथम के समय के अभिलेख में चित्रित ग्राम जीवन से साम्य रखता है।

गाँव का प्रशासन ग्राम-सभाओं के माध्यम से चलता था। ये सभाएँ दो प्रकार की थीं। एक को 'उर' कहते थे और दूसरे को 'सभा' या 'महासभा'। एक तीसरे प्रकार की सभा भी थी, जिसे 'नगरम्' कहते थे, यद्यपि 'उर' और 'सभा' की तुलना में अभिलेखों में इसके उल्लेख कम हैं। 'नगरम्' व्यापारियों की प्रधान सभा थी। ये सभाएँ स्थानीय लोगों की सभाएँ थीं और सामान्य रूप से इनका संबंध उन सभी कार्यों से था, जो सार्वजनिक ढंग के होते थे। राज्य के अधिकारी इनकी सामान्य निगरानी करते थे, विशेषकर समय-समय पर इनके हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करते थे। अन्यथा ये अपने क्रियाकलापों में पूर्णतः स्वायत्त होती थीं।

इन सभाओं में 'उर' सबसे सरल प्रकार की सभा थी। यह गाँव के सभी वयस्क पुरुषों की सभा थी। कुछ गाँवों में 'उर' एवं 'सभा', दोनों साथ-साथ पाए जाते थे। बड़े गाँवों में दो 'उर' पाए जाने का भी प्रमाण प्राप्त हुआ है। 'सभा' या 'महासभा' के विषय में अभिलेखों में बड़े विस्तृत विवरण मिलते हैं। यह गाँव के ब्राह्मणों का संगठन था। इसका अस्तित्व वैसे गाँवों में भी था, जो 'चतुर्वेदिमंगलम्' अथवा विशुद्ध रूप से ब्राह्मणों के गाँव थे। इनमें से अनेक राजा द्वारा प्रदत्त 'अग्रहार' गाँव थे।

'उर' और 'सभा' अपनी कार्यकारी परिषदों के माध्यम से कार्य करती थीं। 'उर' की कार्यसमिति को 'आलुंगणम' तथा 'सभा' की कार्यसमिति को 'वारियम' कहते थे। मद्रास से 80 कि. मी. दक्षिण-पश्चिम में अवस्थित उत्तरमेरूर नामक स्थान से प्राप्त अभिलेखों से ग्राम-सभा की कार्य पद्धति के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है। यह ब्राह्मणों का गाँव था, जो आज भी मौजूद है। इस गाँव के पश्चिम में करीब दो मील दूर सिंचाई का एक तालाब है। यही तालाब उत्तर मैसूर के चोल अभिलेख में उल्लिखित वैरामेघ तड़ाग है, जिसपर सभा ने विशेष ध्यान दिया था। उन दिनों सभा ने इसका प्रबंध करने के लिए एक विशेष समिति बना दी थी जिसे 'एरि वारियम' कहते थे। उत्तरमेरूर की सभा के विषय में जितनी जानकारी उपलब्ध है, उतनी किसी अन्य सभा के बारे में नहीं। किंतु अभिलेखों में 'वारियम' के उल्लेख बराबर आए हैं। इससे यही संकेत मिलता है कि अन्य सभाएँ भी खास-खास कार्यों के लिए 'वारियम' का गठन करती थीं। उदाहरण के लिए अभिलेखों में 'पंचवार वारियम' का उल्लेख हुआ है, जो गाँव के सामान्य प्रबंधन से संबद्ध समिति थी। इसी प्रकार मंदिरों के प्रबंधन, खेतों में पानी के वितरण और बाग-बगीचों के रखरखाव के लिए सभाओं ने विभिन्न समितियों का गठन किया था।

उत्तरमेरूर अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कार्यसमितियों के सदस्यों का चुनाव पर्चियाँ निकालकर करने की व्यवस्था की गई थी। इसके लिए संपूर्ण गाँव को कई 'कुडुंबु' अथवा वार्डों में विभक्त किया गया था। किंतु चुनाव उन्हीं व्यक्तियों में से किया जाता था, जिन्हें एक निश्चित नियम के अनुसार कुडुंबु मनोनीत करते थे। इसके लिए केवल उन्हीं व्यक्तियों का चयन किया जाता था, जो इसके लिए निर्धारित शर्तें पूरी करते हों। विशेष परिस्थिति में सदस्यों को कार्य-समितियों की सदस्यता के लिए अयोग्य भी घोषित किया जा सकता था। यदि कोई व्यक्ति पिछले तीन वर्षों में किसी समिति का सदस्य रहा हो तो उसे पुनः किसी समिति का सदस्य नहीं बनाया जाता था। इसी प्रकार, सदस्यता के दौरान लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में यदि कोई सदस्य असफल रहता अथवा चोरी जैसे अपराधों में संलिप्त पाया जाता, तो उसे समिति की सदस्यता से वंचित कर दिया जाता था।

कार्यसमितियों के सदस्यों को कोई पारिश्रमिक अथवा मानदेय नहीं दिया जाता था किंतु इनकी सहायता के लिए कुछ वेतनभोगी कर्मचारी अवश्य रखे जाते थे। ये ही ग्राम-सभा के हिसाब-किताब और अन्य दस्तावेज रखते थे। इन कर्मचारियों को मध्यस्थ कहते थे। मध्यस्थ का अर्थ समझौता करने वाला होता है, किंतु चोल अभिलेखों में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है। इनके लिए इस शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है, क्योंकि वे गाँव की राजनीति में तटस्थ रहते थे। वे सभा की बैठकों में उपस्थित रहते थे और कार्यवाही चलाने में मदद करते थे, किंतु वे स्वयं किसी वादविवाद में भाग नहीं लेते थे। सभा उनके पारिश्रमिक और कर्तव्यों का निर्धारण करती थी।

सभाओं का कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत था। उन्हें गाँव की भूमि का स्वामी माना जाता था और वे नई भूमि को कृषि योग्य बनाकर उसपर अपना अधिकार स्थापित कर सकती थीं। केंद्र सरकार के लिए भूराजस्व के साथ-साथ अन्य करों का संग्रह भी इन्हीं सभाओं के द्वारा किया जाता था और भूराजस्व का भुगतान न होने की स्थिति में वे किसानों को उनकी जमीन से बेदखल कर सकती थी। इन सभाओं की शक्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ग्राम सभाएँ राजा से अनुमोदन प्राप्त किए बिना भी भूराजस्व में छूट दे सकती थीं। इसके अतिरिक्त गाँव की सभाएँ गाँवों के सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए धन जुटाने के उद्देश्य से नए कर भी लगा सकती थीं। अभिलेखों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब इन सभाओं ने तालाब अथवा धर्मशाला (अंबलम्) के निर्माण तथा धार्मिक कार्यों के लिए नए कर लगाए। सभा द्वारा लगाए और संग्रह किए गए इन करों का लेखा-जोखा राज्य के लिए संग्रह किए गए राजस्व से पृथक रखा

जाता था। इन विषयों में केंद्र सरकार के पास अपने अभिलेख तो होते ही थे, गाँव की सभाओं की भी अपनी भूमि की पंजी (निलमुदल) और कर-पंजी (पोत्तगम) होती थी। न्याय-व्यवस्था में भी सभा की महत्वपूर्ण भूमिका थी। वे दोषियों को सजा दे सकती थीं। गाँव का न्यायाधिकारी लोगों से जो जुर्माने वसूल करता था, उसका इस्तेमाल किसी सार्वजनिक कार्य के लिए होता था। गाँव की सभी अक्षयनिधियाँ सभाओं के अधीन होती थीं। उनकी निगरानी का कार्य उन्हीं के द्वारा होता था। कभी-कभी तो एक ही गाँव में इतनी निधियाँ होती थीं कि इनके प्रबंध के लिए अलग से एक समिति, 'धर्म वारियम' बनाने की आवश्यकता पड़ जाती थी।

नीलकंठ शास्त्री ने इन गाँवों को 'लघु गणतंत्र' कहा है, जिन्हें अपने कार्यों में स्वायत्तता प्राप्त थी। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि प्रशासन के शीर्ष स्तर में तो परिवर्तन होते रहे, किंतु इससे ग्रामीण संस्कृति अप्रभावित रही और तमिल प्रदेश में दीर्घकाल तक सांस्कृतिक तारतम्यता बनी रही।

2.2.10. कला एवं वास्तुकला

वास्तुकला की द्रविड़ शैली, जिसका उद्भव पल्लवों के शासनकाल में हुआ, चोल राजाओं के शासनकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। परवर्ती पल्लव काल में चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने का काम बंद हो चुका था। अब पत्थरों की जुड़ाई करके मंदिर बनाए जाने लगे थे। चोलों ने इस पद्धति का प्रयोग अपने संपूर्ण साम्राज्य में किया। इसके अतिरिक्त प्रांरभ में उन्होंने जिन भवनों एवं मंदिरों का निर्माण करवाया, उनमें कोई तड़क-भड़क भी नहीं है। वे प्रायः वैसी ही हैं जैसी परवर्ती पल्लवों की थीं। किंतु ज्यों-ज्यों चोल साम्राज्य का विस्तार होता गया, उनके निर्माण का आकार भी बढ़ता गया। तंजोर एवं गंगैकोंडचोलपुरम उनकी वास्तुकला के चरमोत्कर्ष के प्रतीक हैं। इसी प्रकार चोल राजाओं के शासनकाल में मूर्तिकला और चित्रकला में भी पर्याप्त प्रगति हुई।

जी.जे. द्रब्रील का मत है कि पल्लवों ने मूर्तिकला में विशिष्टता प्राप्त की थी, जबकि चोल मुख्यतः वास्तुकार थे। किंतु नीलकंठ शास्त्री इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि पत्थरों की चोल मूर्तियाँ किसी भी तरह से पल्लवों की मूर्तियों से कम नहीं है और कांस्य मूर्तियों में तो चोलों की कोई तुलना ही नहीं है। उनका सौंदर्य अद्वितीय है। विशाल मूर्तियों के लिए धातु गलाने की उनकी प्रौद्योगिकी उच्च कोटि की थी।

चोल राजाओं के शासनकाल में मंदिर कई स्थानों पर बनाए गए। कुछ मंदिर उन स्थानों पर बने जहाँ वृक्षों की पूजा होती थी और उन वृक्षों को देवताओं का निवास माना जाता था। अन्य मंदिर उन स्थानों पर बने जिनके विषय में यह विश्वास था कि वहाँ कोई पौराणिक घटना घटी थी। श्मशान मंदिर भी बने, जिन्हें 'पल्लीपडै' कहते थे। ये संतों, राजाओं और वीरों के अवशेषों पर बने थे। अनेक मंदिर राजाओं ने अपनी इच्छा से स्थानों का चुनाव कर बनवाए। इसके उदाहरण तंजोर और गंगैकोंडचोलपुरम के बृहदीश्वर मंदिर हैं। इनमें पहला मंदिर राजराज-प्रथम ने बनवाया था और दूसरा उसके उत्तराधिकारी राजेंद्र ने।

चोलकालीन वास्तुकला को विकास-क्रम की दृष्टि से तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है :–

(i) आदिकाल (850 ई.-985 ई.)

आदिकाल में वास्तुकला का पल्लव शैली से चोल शैली की ओर संक्रमण हुआ। इस काल के प्रारंभ में जो मंदिर बने उनमें पल्लव और चोल् दोनों शैलियों की छाप है, किंतु शीघ्र ही चोल शैली मुखर

हो गई। संक्रमणकालीन मंदिरों में पहला उल्लेखनीय मंदिर नाटमिलई स्थित विजयालयचोलेश्वरम है। इसका निर्माण विजयालय के शासनकाल में हुआ था। इसमें आदिकालीन वर्गाकार प्राकार के अंदर एक वृत्ताकार कक्ष है। कक्ष और प्राकार के ऊपर एक विमान है, जो तीन खडों में विभक्त है। इसके नीचे के दो खंड वर्गाकार हैं और सबसे ऊपर का खंड वृत्ताकार है। इस मंदिर में गर्भगृह के सामने जो मंडप हैं, उसके स्तंभ पल्लव शैली के हैं। मुख्य मंदिर के चारों ओर सात छोटे उपमंदिर हैं जो मुख्य मंदिर की ओर अभिमुख हैं। ये सभी पत्थरों के बने हैं और इनका डिजाइन मुख्य मंदिर की तरह ही है। मुख्य मंदिर के चारों ओर सात या आठ उपमंदिरों की व्यवस्था आदिकालीन चोल मंदिरों की एक प्रमुख विशेषता है।

संक्रमणकालीन मंदिरों में सबसे विशिष्ट तिरूक्कटुलै है, जो सुंदरेश्वर मंदिर के नाम से ख्यात है। इसका निर्माण आदित्य-प्रथम के शासनकाल में हुआ था। इस मंदिर के गर्भगृह और विमान वर्गाकार है। इनके अर्द्धस्तंभ चोल शैली के हैं, किंतु इसपर पल्लव शैली की स्पष्ट छाप है। कुंभकोणम के नागेश्वर मंदिर में तिरूक्कटुलै की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। किंतु इस मंदिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता इसकी बाहरी दीवारों में बने आलों में रखी मूर्तियाँ हैं। विजयालय अथवा आदित्य-प्रथम के शासनकाल में निर्मित अगस्त्येश्वर का मंदिर भी वास्तुकला के चोल शैली की ओर प्रस्थान का संकेत देता है।

इतिहासकारों का मत है कि परांतक-प्रथम के शासनकाल में निर्मित श्रीनिवासनल्लूर का कोरंगनाथ मंदिर पल्लव शैली के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है। पर्सी ब्राउन कहते हैं कि इस मंदिर मेंपल्लव शैली से दो बातों में स्पष्ट अंतर है। एक तो इस मंदिर के स्तंभों के शीर्ष और दूसरा, शीर्ष के ऊपर अवस्थित आधार, जो स्पष्टतः पल्लवों के स्तंभों से भिन्न हैं।

निश्चय ही परांतक-प्रथम के शासनकाल में चोलकालीन वास्तुकला पल्लवों के प्रभाव से मुक्त हो गई और उसका निजी और विशिष्ट रूप प्रकट हो गया। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मुख्य मंदिर अपनी भव्य संरचना एवं केंद्रीय स्थिति के कारण मंदिर परिसर में अवस्थित अनेक उपमंदिरों पर शासन करता प्रतीत होता है। इसमें गर्भगृह के सामने का अंतराल मुख्य मंदिर का समन्वित अंग होता है और ऐसे मंदिरों में विमान का निम्न तल इन दोनों को आच्छादित करता है। यह विशेषता प्रारंभिक चोल मंदिरों, जैसे- विजयालय-चोलेश्वर में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, किंतु शीघ्र ही इसका लोप हो गया। इसके बाद जिन मंदिरों का निर्माण हुआ, उनमें विमान गर्भगृह के ठीक ऊपर अवस्थित है। पल्लव अपने स्तंभों तथा अन्य स्थानों को सिंह के डिजाइन से अलंकृत करते थे, किंतु बाद में यह प्रवृत्ति लुप्त हो गई और चोल वास्तुकला में स्तंभों एवं अर्द्धस्तंभों की गढ़न शुद्ध अमूर्त शैली की हो गई।

(ii) मध्य काल (985 ई.-1070 ई.)

मध्य चोल काल में चोल वास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस काल में निर्मित दो सबसे महत्वपूर्ण मंदिर तंजोर एवं गंगैकोंडचोलपुरम स्थित बृहदीश्वर मंदिर हैं। तंजोर स्थित बृहदीश्वर मंदिर, जिसे राजराजेश्वर मंदिर भी कहते हैं, 1009 ई. में बनकर तैयार हुआ। यह चोल वास्तुकला की सबसे भव्य संरचना है। इस मंदिर की मुख्य विशेषता पिरामिड के आकार का इसका भव्य विमान है जिसकी ऊँचाई लगभग 190' है। इसमें कुल तेरह खंड हैं, जो ऊपर की ओर क्रमशः लघुतर होते गए हैं। विमान, अर्द्धमंडप, महामंडप और नंदीमंडप, सभी एक चहारदीवारी के अंदर केंद्र में अवस्थित हैं और उनके सामने एक प्रवेश द्वार, गोपुरम है। मंदिर परिसर में अनेक उपमंदिर भी हैं जो चहारदिवारी के अंदर चारों तरफ फैले हुए हैं। इसके साथ ही, इस मंदिर की दीवारें आधार से शीर्ष तक विभिन्न प्रकार की मूर्तियों से सुसज्जित हैं। पर्सी ब्राऊन इस मंदिर को संपूर्ण भारतीय वास्तु की कसौटी मानते हैं।

मध्य चोल युग का दूसरा महत्वपूर्ण मंदिर गंगैकोंडचोलपुरम स्थित बृहदीश्वर मंदिर है, जिसका निर्माण 1030 ई. के आसपास हुआ था। इसमें तंजोर की सभी विशेषताएँ मौजूद हैं, किंतु पिरामिड के आकार का इसका विमान 160' ऊँचा है और इसमें सिर्फ आठ मंजिलें हैं। इसके अतिरिक्त, तंजोर विमान की मजबूत सीधी रेखाओं के स्थान पर वक्र रेखाओं का प्रयोग हुआ है और इसकी बाहरी दीवार तंजोर की तुलना में अधिक आलंकारिक है।

मध्यकालीन चोल वास्तुकला के प्रमुख लक्षण उनके भव्य विमान और विशाल प्रांगण थे। किंतु धीरे-धीरे गोपुरम को प्रमुखता मिली और बड़ी-बड़ी ऊँचाई के अत्यधिक सजावट वाले गोपुरम बनाए जाने लगे। कई गोपुरम मंदिरों की तरह बनाए गए, जिनमें कई मंजिलें होती थीं। इन सभी का परिणाम यह हुआ कि मुख्य अथवा केंद्रीय मंदिर गोपुरम की तुलना में अत्यंत गौण हो गया। इसके अतिरिक्त इस काल के मंदिरों की एक अन्य विशेषता यह रही है कि इन विशाल मंदिरों को अत्यंत सूक्ष्म भावभंगिमाओं वाली मूर्तियों से अलंकृत किया गया। फरगुसन ने ठीक ही कहा है कि मंदिरों की संकल्पना में चोल कलाकार दैत्यों के समान थे, किंतु उन्होंने उन मंदिरों को अंतिम रूप एक जौहरी की भाँति दिया।

(iii) परवर्ती काल (1070 ई.-1250 ई.)

परवर्ती चोल काल में भी मंदिरों का निर्माण पहले की तरह ही होता रहा। चोल-वास्तु के विकास की दृष्टि से इस काल का पहला मंदिर दाराशुरम स्थित ऐरावतेश्वर मंदिर है। इस मंदिर का निर्माण राजराज-द्वितीय के शासनकाल में हुआ था, यद्यपि कुलोतुंग-तृतीय के समय इसमें विस्तार भी हुए थे। इस मंदिर के मूल रूप में कई प्राकार थे और प्रत्येक प्राकार का अपना गोपुरम था, जिससे उसमें प्रवेश करते थे। दूसरा महत्वपूर्ण मंदिर कुंबकोणम के निकट त्रिभुवनम में अवस्थित कंपहरेश्वर का मंदिर है। यह कुलोत्तुंग्तृतीय के शासनकाल में बना था। इन दोनों मंदिरों की वास्तुकला अपने पूर्ववर्ती मंदिरों से कई दृष्टियों से साम्य रखती है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि शैली की दृष्टि से इन्हें तंजोर और गंगैकोंडचोलपुरम के सुविकसित चोल मंदिरों और चोलोत्तर विशाल मंदिरों के समूहों के बीच के संक्रमणकाल का उदाहरण माना जा सकता है।

चोल मूर्तिकारों ने पत्थरों की मूर्तियाँ बनाने की कला में दक्षता हासिल की। किंतु इसके लिए उन्होंने पल्लवों की भाँति बड़े-बड़े फलकों का चुनाव नहीं किया। उनके अधिकांश फलक $2^1 \times 1^1$ से अधिक नहीं हैं। इसके साथ ही, उन्होंने बड़ी-बड़ी कांस्य मूर्तियों को ढालने की कला में भी प्रवीणता हासिल की।

चोलकालीन देवी-देवताओं की मूर्तियों में शैव प्रतिमाओं का बाहुल्य रहा है। फिर भी, वैष्णव प्रतिमाएँ भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुई हैं। शैव प्रतिमाओं में नटराज एवं अर्द्धनारीश्वर की प्रस्तर प्रतिमाएँ उच्च कोटि की हैं। तंजोर और गंगैकोंडचोलपुरम के बृहदीश्वर मंदिरों में बड़ी सशक्त मूर्तियाँ हैं। इनमें तंजोर की सरस्वती की मूर्ति तथा गंगैकोंडचोलपुरम की नटराज की मूर्ति प्रमुख है। गंगैकोंडचोलपुरम में सूर्य की एक मूर्ति है, जो कमलयंत्र के रूप में है और जिसे सात घोड़े खींच रहे हैं। इसमें सूर्य का पूरा परिकर तो है, किंतु सूर्य की कोई प्रतिमा नहीं है।

चोल कलाकार द्वारा निर्मित व्यक्तियों की मूर्तियों में प्रमाणित व्यक्तियों की मूर्तियों का अभाव है। वस्तुतः यह बात सभी भारतीय मूर्तियों के विषय में कही जा सकती है। इसका कारण यह है कि व्यक्तियों के यथार्थ अंकन की अपेक्षा टाइप का अंकन अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है, किंतु चोलकालीन मूर्तियों में इसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, श्रीनिवासनल्लूर में अवस्थित कोरंगनाथ मंदिर तथा कुंभकोणम में अवस्थित नागेश्वर मंदिर में ऐसी कई मूर्तियाँ हैं, जो यथार्थ प्रतीत होती हैं। कुंभकोणम

की मूर्तियों के विषय में अजीत घोष का मत है कि ''यहाँ चोल कलाकार अपने पूर्ववर्ती पल्लवों से स्पष्ट ही पृथक् हैं। पल्लव कृतियाँ नितांत अव्यावहारिक, आदर्श प्रवण और पद्धतियों की चोरी है : ऊपरी दृष्टि से किसी पल्लव राजा और देवता में या किसी रानी और देवी में कोई अंतर नहीं है। किंतु चोल कलाकार की कल्पना में नवीनता और आकर्षण है।'' नागेश्वर मंदिर से प्राप्त नारी मूर्तियों के विषय में अजीत घोष कहते हैं कि ''ये चोल नारियाँ अत्यंत नयनाभिराम, आकर्षक मानव आकृतियाँ हैं। इनमें नारी सुलभ लावण्य और जीवन के प्रति उल्लास है। यह गहरा मानवीय गुण इस मंदिर के आलों में बनी प्रत्येक मूर्ति की विशेषता है। पारंपरिक होते हुए भी इस कला में ताजगी और मौलिकता है। यह मानवीयता दक्षिण भारतीय कला को चोलों की मुख्य देन है।'' स्पष्टतः इन मंदिरों में उपलब्ध मूर्तियों की आकृति में विभिन्नता है। इससे पता चलता है कि ये अलग-अलग व्यक्तियों की मूर्तियाँ हैं। वस्त्रों, नारियों के केश-विन्यास, पुरुषों और स्त्रियों के आभूषणों का अंकन आदि यह सिद्ध करते हैं कि संभवतः ये राजपरिवार के उन व्यक्तियों की मूर्तियाँ हैं, जिन्होंने मंदिरों में दान दिए।

चोल राजाओं का शासनकाल कांस्य मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। अधिकांश कांस्य प्रतिमाएँ ढालकर बनाई गई हैं। तंजोर के अभिलेख में इसके बारे में तकनीकी जानकारी दी गई है। इससे संकेत मिलता है कि कांस्य की कुछ मूर्तियाँ ठोस होती थीं और कुछ खोखली। चोल मूर्तिकारों ने धातुओं को ढालने की कला में उच्च कोटि की दक्षता प्राप्त की थी। कांस्य प्रतिमाओं में नटराज की मूर्तियों का प्रथम स्थान है। चोल मूर्तिकारों ने नटराज की कल्पना और उसकी अभिव्यक्ति में अद्भुत कुशलता हासिल की। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिव के अन्य रूपों, ब्रह्मा, विष्णु और उनकी पत्नी लक्ष्मी, राम और सीता, कृष्ण तथा शैव संतों की भी कई कांस्य मूर्तियाँ बनाई। यद्यपि चोल कलाकारों ने मूर्तिकला की पारंपरिक रूढ़ियों का ही अनुसरण किया, किंतु 11वीं और 12वीं सदी में इन मूर्तिकारों ने अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता महसूस की और उनकी कृतियों में भी इस स्वच्छंदता की स्पष्ट छाप पड़ी।

तमिल साहित्य में चोलकालीन चित्रों का उल्लेख हुआ है। इससे इनके बाहुल्य और चित्रकारों के कौशल का संकेत मिलता है। अधिकांश चोल चित्रों का विषय धार्मिक है। इनका मुख्य स्रोत वे संतचरित हैं जो बाद में पेरिय-पुराण के अंग बने। दुर्भाग्यवश , अधिकांश चित्र नष्ट हो चुके हैं और इसलिए चोलकालीन चित्रकला के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती है।

2.2.11. समुद्रवर्ती गतिविधियाँ

चीन एवं दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ संबंध

सामुद्रिक व्यापार की चोल साम्राज्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका थी। वस्तुतः चोल राजाओं के शासनकाल में दक्षिण भारत और चीन के बीच समुद्रवर्ती व्यापार अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। दसवीं सदी के अंत में चीन की समकालीन शुंग सरकार ने विदेशी व्यापार के प्रति गहरी रुचि दिखाई और उसने भारत-चीन व्यापार को राज्य का एकाधिकार बना दिया।

इस स्थिति से लाभ उठाने के लिए चोल राजाओं ने भी अपने दूत चीन भेजे। चीनी साहित्य से ज्ञात होता है कि चोल व्यापारियों का एक प्रतिनिधिमंडल 1015 ई. में चीन पहुँचा। इस प्रतिनिधिमंडल को चीन पहुँचने में तीन वर्ष का समय लगा था। इसलिए अनुमान किया जाता है कि वह राजराज-प्रथम के शासनकाल के अंतिम वर्षों में दक्षिण भारत से चला होगा। व्यापारियों का एक दूसरा प्रतिनिधिमंडल राजेंद्र-प्रथम के शासनकाल में भेजा गया, जो 1033 ई. में चीन पहुँचा। कुलोत्तुंग-प्रथम के शासनकाल में

भी 1077 ई. में 72 व्यापारियों का एक दूतमंडल चीन पहुँचा, जहाँ इसे काँच के बर्तनों, कपूर, गैंडा के सींग, हाथी दाँत, लौंग आदि वस्तुओं के बदले में 8108 ताम्र मुद्राओं की लड़ी मिली।

श्रीविजय साम्राज्य के विरुद्ध राजेंद्र चोल को अपने नौसैनिक अभियान में जो सफलता मिली, उससे दक्षिण भारत और चीन के बीच समुद्रवर्ती संपर्क का रास्ता पहले से और भी अधिक मजबूत हो गया। राजेंद्र-प्रथम का दक्षिण पूर्व एशिया में अवस्थित श्रीविजय साम्राज्य के विरुद्ध नौसैनिक अभियान चोल इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। इस अभियान में चोल सेना ने राजधानी श्रीविजय सहित कई स्थानों पर अधिकार कर लिया। राजा संग्राम विजयोतुंगवर्मन बंदी बना लिया गया, पर अंततः उसे चोलों का प्रभुत्व स्वीकार कर लेने की शर्त पर रिहा कर दिया गया और उसे उसका राज्य भी वापस कर दिया गया।

दक्षिण पूर्व एशिया में अवस्थित मलय प्रायद्वीप एवं इंडोनेशिया में 8वीं सदी से 13वीं सदी तक शैलेंद्र वंश का शासन था। इनकी राजधानी श्रीविजय थी और इनके निवासी भारतीय मूल के थे। राजराज एवं राजेंद्र-प्रथम के शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में चोल राजाओं एवं इनके बीच मैत्रीपूर्ण संबंध थे। वस्तुतः राजराज ने शैलेंद्र शासक विजयोतुंगवर्मन को नागपट्टम में न सिर्फ एक बौद्ध विहार बनाने की अनुमति प्रदान की थी, बल्कि उसके रखरखाव के लिए एक गाँव भी अनुदान में दिया था। ऐसी स्थिति में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि राजेंद्र-प्रथम ने श्रीविजय पर क्यों आक्रमण किया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि राजेंद्र-प्रथम समुद्रपार साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। दूसरे शब्दों में, समुद्रपार साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षा ने उसे श्रीविजय पर आक्रमण करने हेतु प्रेरित किया। किंतु यह मत सही नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो विजित प्रदेशों में भारतीय उपनिवेश स्थापित किए जाते और अधिक से अधिक प्रदेशों को जीतने का प्रयास किया जाता। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

वस्तुतः भारतीय व्यापारिक हितों की किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से रक्षा करने की नीति ही राजेंद्र चोल-प्रथम के आक्रमण का कारण बनी। दसवीं सदी के अंत तक दक्षिण भारत एवं चीन के बीच समुद्रवर्ती व्यापार अत्यंत विकसित हो चुका था। यह व्यापार उन समुद्री मार्गों से होता था, जो श्रीविजय साम्राज्य के अधीन थे। संभवतः संगामविजयोतुंगवर्मन ने इस व्यापार में कोई बाधा खड़ी कर दी। उसने शायद यह सोचा हो कि यदि भारत-चीन व्यापार का श्रीविजय में अंत हो जाए तो इससे श्रीविजय के स्थानीय व्यापारी वस्तुओं को उनके गंतव्य तक पहुँचाकर लाभ अर्जित कर सकते हैं। इससे राजेंद्र-प्रथम अप्रसन्न हो गया और इस तरह श्रीविजय साम्राज्य के साथ युद्ध की स्थिति बन गई। संभव है, इस व्यापार में राजेंद्र-प्रथम की भी पूँजी लगी हुई हो।

रॉकहिल का मत है कि चीन में दो प्रकार की वस्तुओं का आयात होता था -(1) सूती वस्त्र, मसाले और औषधियाँ एवं (2) बहुमूल्य रत्न, हाथी दाँत, गैंडे की सींग, आबनूस, अंबर, मूंगा आदि। इसके साथ ही साज-शृंगार की वस्तुओं और इत्र का भी आयात किया जाता था। इनका मूल्य अधिक होता था, किंतु फिर भी चीन में ऐसे द्रव्यों की माँग बराबर बढ़ती गई। इसलिए चीन की सरकार ने इनके विक्रय का एकाधिकार अपने हाथ में ले लिया था। इस व्यापार से चीन को भी लाभ होता था। किंतु बाद में इन वस्तुओं का आयात इतना बढ़ गया कि बड़े पैमाने पर चीन के सिक्के बाहर जाने लगे। यह बात 12वीं सदी में प्रकाश में आई। इसलिए चीन की सरकार ने कानून बनाकर क्विलोन तथा कोरोमंडल तट से आने वाली वस्तुओं पर प्रतिबंध लगा दिया।

चीन द्वारा भारतीय आयात पर प्रतिबंध लगाए जाने के बाद भी चीन और दक्षिण भारत के बीच में व्यापार पूर्व की तरह ही चलता रहा। चाउ जु कुआ के विवरणों से संकेत मिलता है कि 13वीं सदी में

चीन में सूती वस्त्र, दालचीनी, सुपारियाँ, मोती, मूँगे, हाथी दाँत आदि आयात होते रहे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फारमोसा के निकट चुआन चाऊ बंदरगाह में अवस्थित एक चीनी मंदिर में हिंदू देवताओं की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। इनकी बनावट दक्षिण भारतीय मूर्तियों की तरह है। तेरहवीं सदी की इन मूर्तियों से यही संकेत मिलता है कि चुआन चाऊ में अभी भी दक्षिण भारतीय व्यापारियों की एक बस्ती थी।

चोल राजाओं के शासनकाल में पश्चिम में फारस की खाड़ी के पूर्वी तट पर अवस्थित सिराफ वाणिज्य एवं व्यापार का एक प्रमुख केंद्र था। यहाँ भारत, चीन, जापान और दक्षिण पूर्व एशिया के व्यापारी पश्चिमी देशों के व्यापारियों से वस्तुओं का आदान-प्रदान करते थे। सिराफ के बारे में दसवीं सदी का लेखक इस्तखरी कहता है कि वहाँ मसालों और औषधियों के साथ-साथ सुगंधित भारतीय इत्र, हाथी दाँत, चंदन की लकड़ी, कागज, आबनूस, बाँस, अंबर, कपूर और बहुमूल्य रत्नों का आयात होता था। ग्यारहवीं सदी के मध्य में सिराफ का महत्व कम हो गया और इसका स्थान कीश द्वीप ने लिया। स्पेन का एक यहूदी यात्री, बेंजामिन बताता है कि पश्चिम में भारतीय व्यापारियों की यात्रा का अंतिम बिंदु कीश द्वीप था। वह कहता है कि भारत के व्यापारी यहाँ बड़ी मात्रा में मसाले लाते थे।

अभिलेखों से विदित होता है कि चोल राजाओं की सेना में घुड़सवारों का महत्वपूर्ण स्थान था। अभिलेखों में घोड़ों के सौदागरों के भी उल्लेख बार-बार आए हैं। इतिहासकारों का मत है कि दक्षिण भारत में अधिकांश घोड़े अरब से लाए जाते थे। मार्को पोलो ने चैदहवीं सदी में बड़े पैमाने पर ऐसे व्यापार का उल्लेख किया है। निश्चय ही यह व्यापार चोल काल में प्रारंभ हुआ होगा।

चोल राजाओं के प्रयास से दक्षिण भारत में कई बंदरगाह स्थापित किए गऐ जहाँ से पूर्व एवं पश्चिम के देशों के साथ सामुद्रिक व्यापार होते थे। इनमें पूर्वी तट पर अवस्थित महाबलिपुरम, कावेरीपट्टनम, शालियूर और कोर्कै तथा मालाबार तट पर अवस्थित क्विलोन प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त, पूरब में अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह तथा पश्चिम में मालदीव और लक्षद्वीप लंबी समुद्री यात्रा पर जाने वाले जहाजों के लिए अच्छे पड़ाव थे।

चोल राज्य में वाणिज्य-व्यापार का संचालन व्यापारियों द्वारा अथवा संघों या निगमों के द्वारा किया जाता था। इनके लिए सामान्य शब्द 'नगरम्' था। लेकिन कुछ बहुत बड़े संघ, जो सामुद्रिक व्यापार का संचालन करते थे, विशिष्ट नामों से जाने जाते थे, जैसे– मणिग्रामम, वलंजीयर और नानादेशि-प्रथम सुमात्रा से प्राप्त एक अभिलेख में नानादेशियों का उल्लेख है, जो इस बात का प्रमाण है कि सामुद्रिक व्यापार में इन निगमों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उल्लेखनीय है कि तेरहवीं सदी में नानादेशियों ने बर्मा में विष्णु का एक मंदिर बनवाया था।

बड़े व्यापारिक संघ आर्थिक जीवन के अत्यंत शक्तिशाली तत्व थे। इन संघों का गठन व्यापारियों द्वारा अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए किया गया था। ये संघ उत्पादन-स्थल पर वस्तुओं को खरीदते थे और एक विस्तृत नेटवर्क के माध्यम से इन्हें विभिन्न स्थानों पर वितरित करते थे। उनकी पहुँच इस महादेश और समुद्र पार के हर स्थान पर थी, उनकी अपनी वेतनभोगी सेनाएँ होती थी, जो यात्राओं में उनके जानमाल की रक्षा करती थीं। सामुद्रिक व्यापार के लिए उन्हें राज्य या सरकार की मदद की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी, जब भी आवश्यकता हुई, राज्य ने उन्हें सहयोग दिया।

आर्थिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध होने के बावजूद इन व्यापारिक संघों ने राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का कभी प्रयास नहीं किया। इसका कारण इन व्यापारिक संघों में बड़ी संख्या में ब्राह्मणों की भागीदारी थी, जो राजा की शक्ति को चुनौती दिए जाने के विरोधी थे, क्योंकि सामुद्रिक व्यापार में लगाई जाने वाली

पूँजी उन्हें राजा द्वारा अनुदान में प्राप्त भूमि से ही प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त चोल राजाओं ने स्वयं इन व्यापार-संघों के व्यापार में पूँजी लगाई थी। इसलिए वे स्वयं इनके हितों की रक्षा में तत्पर रहते थे।

2.2.12. सारांश

पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजवंशों में चोलों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस राजवंश ने राजराज-प्रथम और राजेंद्र-प्रथम जैसे राजाओं को उत्पन्न किया, जिन्होंने दक्षिण भारत में न सिर्फ राजनैतिक एकता की स्थापना की, बल्कि अपनी कुशल नौसैनिक शक्ति का प्रयोग कर विदेशों में भी विजय हासिल की। इन राजाओं का राजनैतिक इतिहास कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों के साथ इनके सतत संघर्ष का इतिहास है। किंतु इस संघर्ष से दोनों राजवंशों में से किसी को कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। वस्तुतः इसके परिणामस्वरूप दोनों की ही अवनति का मार्ग प्रशस्त हो गया। स्थानीय स्वशासन चोल प्रशासन की विशिष्टता थी। चोलकालीन गाँवों ने जिस मात्रा में स्वायत्तता का उपयोग किया, वह भारतीय इतिहास के लिए अद्वितीय है। कला एवं वास्तुकला के क्षेत्र में भी चोलों की उपलब्धियाँ अत्यंत मूल्यवान हैं। वास्तुकला की द्रविड़ शैली, जिसका उद्भव पल्लवों के शासनकाल में हुआ, चोल राजाओं के शासनकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इसके साथ ही, चोल राजाओं का शासनकाल कांस्य मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है। चोल मूर्तिकारों ने नटराज की कल्पना और उसकी अभिव्यक्ति में अद्भुत कुशलता हासिल की।

2.2.13. बोध प्रश्न

1. ''चोल राजवंश का इतिहास कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों के साथ उनके सतत संघर्ष का इतिहास है।'' विवेचन कीजिए।
2. राजराज प्रथम की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
3. राजेंद्र-प्रथम चोल की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
4. चोलकालीन प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. चोलकालीन स्थानीय स्वशासन का वर्णन कीजिए।
6. कला एवं वास्तुकला के क्षेत्र में चोल राजवंश के योगदान पर प्रकाश डालिए।
7. चोलों की समुद्रवर्ती गतिविधियों पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखिए।

2.2.14. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. शास्त्री, नीलकंठ, अनुवादक : वीरेन्द्र वर्मा (1996), दक्षिण भारत का इतिहास, पटना
2. मजुमदार, आर0 सी0 (सं0) (1990), द हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ द इंडियन पिपुल, वॉल्यूम।।। (द क्लासिकल एज), बंबई।
3. शास्त्री, नीलकंठ (1925), चोलाज, वॉल्यूम।, मद्रास।
4. शास्त्री, नीलकंठ (1937), द चोलाज, वॉल्यूम।।, मद्रास।
5. शास्त्री, नीलकंठ (1932), स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, मद्रास।
6. आयंगर, एस. कृष्णास्वामी (1911), एन्सिएंट इंडिया, मद्रास।
7. दीक्षितर, वी0 आर0 आर0 (1930), स्टडीज इन तमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री, लंदन।

खंड-3 : उत्तर भारत में मुसलमानों का आगमन
इकाई–1 : भारत पर अरबों का आक्रमण

इकाई की रूपरेखा

3.1.1. उद्देश्य
3.1.2. प्रस्तावना
3.1.3. इस्लाम तथा खिलाफत का उदय
3.1.3.1. इस्लाम का उदय
3.1.3.2. मुहम्मद साहब का प्रारंभिक जीवन
3.1.3.3. मुहम्मद साहब का मदीना को प्रस्थान
3.1.3.4. मुहम्मद साहब का मक्का पर अधिकार
3.1.4. खिलाफत का उत्थान
3.1.5. भारत में इस्लाम
3.1.6. अरबों का भारत पर आक्रमण : मुहम्मद बिन-कासिम
3.1.6.1. भारत की स्थिति
3.1.6.2. मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण
3.1.6.3. भारत-आक्रमण हेतु सेना का प्रस्थान एवं विजय
3.1.6.4. मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु
3.1.7. अरब आक्रमण की सफलता के कारण
3.1.8. अरब आक्रमण का प्रभाव एवं महत्व
3.1.9. अरबों की शासन व्यवस्था
3.1.10. भारत में अरबों की अस्थायी सफलता : एक प्रश्न
3.1.11. सारांश
3.1.12. बोध प्रश्न
3.1.12.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
3.1.12.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.1.13. संदर्भ ग्रंथ

3.1.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पूर्व मध्य काल में भारत पर हुए अरब आक्रमणों पर प्रकाश डालना है। इसके अलावा अरबों द्वारा भारत पर किस प्रकार आक्रमण किए गए और विजय प्राप्त की गई और भारत पर अपना राज्य स्थापित किया गया तथा मुस्लिम धर्म का भारत में प्रचलन कैसे प्रारंभ हुआ?

3.1.2. प्रस्तावना

भारत में अरबों के प्रवेश के साथ ही मुस्लिम धर्म का प्रादुर्भाव होता है। इनके आगमन के परिणामस्वरूप भारत के सामाजिक, नैतिक राजनीतिक तथा आर्थिक आदि क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। इन समस्त क्षेत्रों में दो भिन्न विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने भारत को दो विरोधी विचारधाराओ

में विभक्त किया। इससे भारतीय एकता को बड़ा आघात पहुँचा। प्राचीन काल से भारत और अरब के व्यापारिक संबंध अच्छे थे। अरबों ने पश्चिमी समुद्रतट पर अपनी बस्तियों का निर्माण किया। जब सातवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म का प्रचार एशिया के अन्य देशों में किया जा रहा था तब अरबों का ध्यान भारत में भी इस्लाम के प्रचार की ओर गया। अरबवासी भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार करने तथा भारत विजय के लिए बड़े लालायित थे। अतः मुहम्मद-बिन-कासिम को भारत पर आक्रमण हेतु भेजा गया, जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई।

3.1.3. इस्लाम तथा खिलाफत का उदय

3.1.3.1. इस्लाम का उदय

इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव अरब देश में हुआ। अरब देश के उत्थान में इस्लाम धर्म का विशेष हाथ रहा, जिसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब थे। उनकी शिक्षाओं एवं उपदेशों से उनके अनुयायियों में एकीकरण का प्रादुर्भाव हुआ।

3.1.3.2. मुहम्मद साहब का प्रारंभिक जीवन

हजरत मुहम्मद साहब का जन्म अरब देश के पवित्र स्थान मक्का में 570 ई. में हुआ। इनके पिता का नाम अब्दुल्ला और माता का नाम जुहरा था। इनके जन्म लेने के पूर्व ही इनके पिता का देहांत हो गया था, जिससे इनके लालन-पालन का समस्त भार इनकी माता पर आ पड़ा, किंतु मुहम्मद साहब के दुर्भाग्य से छह वर्ष की आयु में उनकी माता का भी देहांत हो गया। इसके बाद मुहम्मद ने अपने पितामह अब्दुल मुतालिक के संरक्षण में अपना जीवन व्यतीत करना आरंभ किया। दुर्भाग्य से वे इस सुख को भी केवल पाँच वर्ष तक ही भोग सके। जब उनकी आयु केवल 13 वर्ष की थी तो उनके पितामह भी इस संसार से चल बसे। बालक मुहम्मद के पालन-पोषण का भार उनके चाचा अबूतालिब को सम्भालना पड़ा। वह व्यापारी थे। उन्होंने मुहम्मद साहब को अपने व्यापार में लगा लिया। इससे मुहम्मद साहब को विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण करना पड़ा। पर्याप्त समय तक मुहम्मद साहब इसी प्रकार अपना समय व्यतीत करते रहे। जिस समय उनकी आयु 25 वर्ष की हुई तो उन्होंने खदिचा नामक एक विधवा स्त्री के व्यापार को सम्भाला। इस समय खदिचा की आयु 40 वर्ष की थी। कुछ समय उपरांत दोनो में प्रेम हो गया और मुहम्मद साहब ने खदिचा से विवाह कर लिया। कुछ समय उपरांत उन्होंने घोषणा की कि उनको फरिश्ता ग्रेबियल के दर्शन हुए हैं, जिसने उनको ईश्वर का आदेश सुनाया है।

3.1.3.3. मुहम्मद साहब का मदीना को प्रस्थान

ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत मुहम्मद साहब ने अन्य व्यक्तियों को उपदेश देना आरंभ किया। सर्वप्रथम उन्होंने अपनी पत्नी खदिचा को उपदेश दिया और वह उनकी शिष्या बन गई। कुछ दिन बाद कुरेश कबीले के एक दल ने मुहम्मद साहब का घोर विरोध किया। उन्होंने मुहम्मद साहब की हत्या करने का प्रयास किया। किंतु विरोधियों का षड़यंत्र पूरा होने के पूर्व ही मुहम्मद साहब 622 ई. में मक्का से मदीना चले गए। इसी समय से मुसलमानो में हिजरी संवत् का आरंभ माना जाता है।

3.1.3.4. मुहम्मद साहब का मक्का पर अधिकार

कालांतर में मदीना की जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया और उनके उपदेशों तथा शिक्षाओं को बड़े चाव से सुना। मदीना की अधिकांश जनता ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया। कुछ समय उपरांत उन्होंने मदीना के समस्त कबीलों को संगठित किया और एक विशाल सेना तैयार करके 630 ई. में मक्का पर आक्रमण किया। युद्ध में मुहम्मद साहब विजयी हुए, किंतु कुछ समय उपरांत मुहम्मद साहब को उहूर

नामक स्थान पर पराजित होना पड़ा। अंत में मक्का पर उनका अधिकार हो गया। वहाँ के निवासियों ने उनको ईश्वर का पैगंबर स्वीकार किया। इससे मुहम्मद साहब के मान तथा प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हुई। अब उनका अरब के तीर्थ स्थानों पर अधिकार हो गया था। इसके बाद मुहम्मद साहब ने अपने शिष्यों को विदेशो में धर्म प्रचार के लिए भेजना आरंभ किया। विदेशों में भी दिन-प्रतिदिन उनके शिष्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर इस्लाम धर्म का प्रचार किया।

3.1.4. खिलाफत का उत्थान

हजरत मुहम्मद की मुत्यु के पश्चात् मुसलमानों में उनके उत्तराधिकार के प्रश्न पर मदभेद हो गया। मुहम्मद साहब किसी को भी अपना उत्तराधिकारी घोषित नहीं कर गए थे। मुसलमानों का एक दल मुहम्मद साहब के ससुर अबूबकर को तथा दूसरा दल उनके दामाद अली को उत्तराधिकारी बनाने का पक्षपाती था। अंत में अबूबकर ही उनके उत्तराधिकारी घोषित किए गए। उन्होंने अन्य देशों में इस्लाम धर्म का प्रचार करना आरंभ किया। उनका जीवन सादा तथा साहित्यिक था। उनके प्रयत्नों से इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हुआ। 634 ई. में उनकी मृत्यु हो गई। उनके मृत्यु के उपरांत मुसलमानों ने उमर को अपना खलीफा नियुक्त किया। अबूबकर के समान ही उमर ने भी विदेशों में इस्लाम धर्म का प्रचार आरंभ किया। वे दस वर्ष तक इसी महत्वपूर्ण पद पर कार्य करते रहे। 644 ई. में जब वे मस्जिद में नमाज पढ़ रहे थे तो किसी व्यक्ति ने उन पर आक्रमण किया। वे घायल हो गए और कुछ समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। वे बड़े धर्मपरायण तथा योग्य व्यक्ति थे। उन्होंने इस्लाम की उत्तम व्यवस्था की और ऐसी संस्थाओं का निर्माण किया, जो इस्लामी जगत में स्वीकृत हुई। उमर की मृत्यु के उपरांत उस्मान खलीफा पद के लिए निर्वाचित हुए।

उस्मान में अपने पूर्वजों के समान योग्यता नहीं थी। वह सांसारिक बंधनों में जकड़ा हुआ था। उसमें स्वार्थपरता की भावना विशेष रूप से विद्यमान थी। अतः मुसलमानों में उनके प्रति घृणा की भावना जाग्रत होने लगी। उस्मान का वध कर दिया गया। अली खलीफा घोषित किए गए, किंतु परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मुसलमानों में पुनः गृह्युद्ध की अग्नि प्रज्वलित हो गई। अली का वध कर दिया गया। उसके बाद अली के पुत्र हसन को मुसलमानों ने खलीफा पद पर आसीन किया। किंतु उसमें भी इतने उच्च तथा उत्तरदायी पद का भार संभालने की योग्यता नहीं थी। उसने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। हसन के त्याग-पत्र देने पर मुसलमानों ने मुआविया को खलीफा पद के लिए निर्वाचित किया। मुआविया सीरिया का गवर्नर था। उमर का वंशज होने के कारण अली के बाद के खलीफा उम्मैद के नाम से विख्यात हुए। उसने दमिश्क को अपनी राजधानी घोषित की। अब वहाँ से समस्त इस्लामी जगत पर शासन किया जाने लगा। उसके समय में खलीफा का पद पैतृक हो गया और निर्वाचन की प्रथा का अंत हो गया। उसके शासनकाल में साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया गया। अब विदेशों की विजय साम्राज्य विस्तार के अभिप्राय से की जाने लगी, जिसमें मुसलमानी साम्राज्य का विस्तार होने लगा। यूरोप में स्पेन से लेकर भारत में सिंधु नदी तक के समस्त प्रदेशों पर उनका अधिकार हो गया। उम्मैद ने यद्यपि एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, किंतु उनको स्थाई बनाने में उसकी रुचि नहीं थी। इसका परिणाम राज्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। अन्य देशों के निवासियों में खलीफा के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न होने लगे, अब्दुल अब्बास नामक व्यक्ति के नेतृत्व में उम्मैद वंश के अंतिम खलीफा के शासनकाल में क्रांति हुई, जिससे खलीफा के पद पर अब्दुल अब्बास का अधिकार हो गया। इससे एक नए वंश का उदय हुआ, जो अब्बासीद वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश के खलिफाओं ने 749 ई. से

1256 ई. तक शासन किया। इन्होंने अपनी राजधानी बगदाद घोषित की और वहीं से शासन कार्य आरंभ किया। ये लोग शिया धर्म के अनुयायी थे। इनकी अरब निवासियों तथा उनके देश के प्रति कोई विशेष श्रद्धा नहीं थी। इस कारण इन्होंने अरब वासियों तथा अन्य देशों के निवासियों में किसी भी प्रकार का भेदभाव न रखते हुए उनके विशेष अधिकारों का अंत कर दिया। अतः शासन पर से अरब वासियों का अधिकार उठने लगा और ईरानियों का अधिकार होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कट्टरता के स्थान पर उनमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना उत्पन्न हुई और जनता के साथ सद्व्यवहार होने लगा। इस वंश में कई प्रतिभाशाली खलीफाओं ने जन्म लिया, जिनका नाम आज भी बड़े आदर की दृष्टि से लिया जाता है। इनमें खलीफा हारुन अल रशीद (Harun Al Rasheed) बड़े न्यायप्रिय एवं कर्तव्यपरायण थे। उनको साहित्य एवं कला से विशेष प्रेम था। तुर्कों के इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर उनका शासन पर भी अधिकार होने लगा। वे कुछ ही समय में इतने शक्तिशाली हो गए कि उसके हाथ में शासन की बागडोर आ गई। खलीफाओं का शासन-क्षेत्र सीमित होने लगा। उन्होंने विभिन्न राज्यों की स्थापना की। खलिफाओं के हाथ में अभी तक धार्मिक शक्ति थी। उनको परिस्थितियों के कारण इसी शक्ति पर भरोसा करना पड़ा। इसी समय मध्य एशिया में भीषण रूप से उथल-पुथल मचने लगी। मंगोल जाति की साम्राज्यवादी नीति ने खलीफाओं की शक्ति का अंत कर दिया। 1256 ई. में प्रसिद्ध वीर चंगेज खाँ के पौत्र हलाकु ने अब्बासीद वंश के अंतिम खलीफा को परास्त कर बगदाद पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार खलीफा के पद का अंत हो गया। अंतिम खलीफा मुस्तसीम के उत्तराधिकारी मंगोलों से अपनी जान बचाकर मिस्र चले गए, जहाँ के सुल्तान ने उनको आश्रय दिया। यहीं से खलीफा अपने धार्मिक अधिकारों का उपभोग करते रहे, किंतु राजनीतिक सत्ता उनके पास नहीं रही। मुसलमान उनकी धार्मिक सत्ता को स्वीकार करते रहे, जो बाद में केवल नाम-मात्र की ही रह गई और उसका महत्व समाप्त हो गया।

3.1.5. भारत में इस्लाम

प्राचीन काल से भारत और अरब के व्यापारिक संबंध अच्छे थे। अरबों ने पश्चिमी समुद्रतट पर अपनी बस्तियों का निर्माण किया। जब सातवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म का प्रचार एशिया के अन्य देशों में किया जा रहा था तो उनका ध्यान भारत में भी इस्लाम के प्रचार की ओर गया। भारत में इस्लाम का प्रचार निम्नानुसार प्रारंभ हुआ।

(1) व्यापारियों द्वारा– प्रारंभ में अरब व्यापारियों ने समुद्र तट पर इस्लाम धर्म का प्रचार किया। उनको कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। इस कार्य में उनको हिंदू राजाओं से भी सहायता प्राप्त हुई।

(2) धर्म प्रचारकों द्वारा– कुछ मुस्लिम धर्म प्रचारक भी भारत आए और उन्होंने धर्म प्रचार का कार्य बड़ी लगन एवं तत्परता से किया।

(3) नए मुसलमानों द्वारा– नए मुसलमानों ने धर्म का प्रचार बड़े उग्र रूप से किया। जहाँ-जहाँ उनकी बस्तियाँ थी वहाँ उन्होंने मस्जिदों का निर्माण किया तथा हज करने मक्का और मदीना जाने लगे तथा खलीफा को प्रतिवर्ष जकात भेजने लगे।

3.1.6. अरबों का भारत पर आक्रमण : मुहम्मद बिन-कासिम

3.1.6.1. भारत की स्थिति

मुहम्मद बिन-कासिम के आक्रमण के समय भारत में विकेंद्रीकरण की भावना बलवती थी। सिंध एक स्वतंत्र प्रदेश था, जिसकी स्थापना चंच ने की थी। उस समय सिंध प्रदेश का राजा दाहिर शासन कर

रहा था। सिंध प्रदेश चार प्रांतों में विभक्त था। प्रांतीय शासकों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। राजा दाहिर में इतनी शक्ति तथा सामर्थ्य नहीं थी कि वह शक्तिशाली मुसलमानी सेना का सामना करने में सफल होता। उस समय सिंध की जनसंख्या केवल कुछ लाख ही थी। राजा दाहिर को जनता का भी सहयोग तथा समर्थन प्राप्त नहीं था। समस्त जनता विभिन्न भागों में विभक्त थी और उसमें एकता का अभाव था।

अरबवासियों ने भारत में पश्चिमी समुद्र-तट पर आक्रमण करने तथा उसको लूटने के लिए एक सेना 626-637 ई. में भेजी। किंतु इसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः खलीफा उमर के शासन काल में भारत पर आक्रमण करने का विचार स्थगित कर दिया गया। 642-644 में उम्मैद खलीफाओं ने भारत पर आक्रमण किया। किंतु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई।

3.1.6.2. मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण

आक्रमण के कारण

अरबवासी भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार करने तथा भारत विजय के लिए बड़े लालायित थे। वे भारत पर आक्रमण करने के अवसर की खोज में थे। उनके सौभाग्य से उन्हें शीघ्र ही एक स्वर्ण अवसर प्राप्त हो गया, जो इस आक्रमण का कारण बना।

इस आक्रमण का कारण यह था कि सिंध के समुद्री डाकुओं ने देवल के किनारे भट्टा नामक स्थान के पास अरबी जहाजों को लूट लिया था।

(1) डॉ. ईश्वरी प्रसाद का कथन है कि लंका के राजा ने खलीफा को इन जहाजों में बहुत-सा धन भेजा था जिसे सिंध के समुद्री डाकुओं ने लूट लिया था।

(2) खलीफा ने दासियों तथा कुछ अन्य वस्तुओं के क्रय करने के उद्देश्य से अपने कुछ सेवकों को भारत भेजा था। जब ये जहाज जा रहे थे तो उनको डाकूओं ने लूट लिया। जब यह समाचार हज्जाज ने सुना तो उसने तुरंत काठियावाड़ के हिंदू राजा दाहिर से उन कन्याओं को माँगा तथा क्षतिपूर्ति करने को कहा। किंतु राजा दाहिर उसकी माँग पूरी नहीं कर सका। अतः उसने भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई।

3.1.6.3. भारत-आक्रमण हेतु सेना का प्रस्थान एवं विजय

आरंभ में दो सेना अबेदुल्ला तथा बुदल के नेतृत्व में भारत भेजी गई किंतु उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई। अंत में खलीफा ने अपने भतीजे मुहम्मद-बिन-कासिम को एक विशाल सेना सौंप कर सिंध विजय का आदेश दिया। मुहम्मद-बिन-कासिम की अवस्था केवल 17 वर्ष की थी, किंतु वह बड़ा वीर तथा साहसी व्यक्ति था। एक ज्योतिषी ने मुहम्मद-बिन-कासिम को ही इस कार्य के लिए सबसे अधिक भाग्यशाली घोषित किया था।

(1) देवल पर अधिकार

हज्जाज की आज्ञानुसार एक विशाल सेना एकत्रित की गई, जिसमें लगभग 15000 सैनिक थे। इस सेना में बैक्टीरिया के ऊँट, कुशल ऊँट सवार तथा चुने गए ईराकी घुड़सवार थे। इसमें 20 हजार ऊँटों पर युद्ध सामग्री थी। मुहम्मद-बिन-कासिम ने शिराज तथा मकरान के मार्ग से भारत की ओर प्रस्थान किया। खलीफा ने भी उसके लिए आवश्यक सामग्री का प्रबंध किया। मार्ग में भी उसे कुछ अरबी सेना मिली। 711 ई. में यह देवल बंदरगाह पर पहुँचा। देवल में एक बड़ा प्रसिद्ध मंदिर था, जिस पर लाल ध्वजा लहरा रही थी। मुसलमानों ने ध्वजा काट डाली, जिससे वहाँ के निवासियों के हृदय में भय उत्पन्न हो गया। थोड़े से युद्ध के बाद देवल पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। राजा दाहिर ने देवल की रक्षा का

कोई प्रबंध नहीं किया, किंतु फिर भी जो सैनिक देवल में थे उन्होंने बड़ी वीरता तथा साहस से मुसलमानी सेना का सामना किया। इसके उपरांत मुसलमानों ने नगरवासियों से इस्लाम धर्म की दीक्षा लेने को कहा, किंतु उन्होंने उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया। अतः कासिम ने 17 वर्ष की आयु वाले सभी व्यक्तियों की हत्या करने का आदेश अपनी सेना को दिया। उसकी आज्ञा का तुरंत पालन किया गया। तीन दिन तक रक्तपात होता रहा। स्त्रियों और बच्चों को दास बनाया गया। कासिम ने वहाँ एक मस्जिद का निर्माण करवाया तथा एक सैनिक छावनी बनवाई और चार हजार मुसलमानों को वहाँ रहने की आज्ञा दी। कासिम ने लूट का 1/5 भाग तथा 75 हजार स्त्रियाँ इराक के गवर्नर हज्जाज के पास भेज दी और शेष धन सैनिको में बाँट दिया।

(2) नीरून पर अधिकार

देवल विजय से मुहम्मद-बिन-कासिम के उत्साह में वृद्धि हुई। अब वह और आगे बढ़ा। भारत में अनेक स्थानों पर लोगों ने धन आदि देकर अपने जीवन तथा स्वतंत्रता की रक्षा की। इसके उपरांत वह नीरून पहुँचा। वहाँ की रक्षा का भार राजा दाहिर के पुत्र जयसीस के हाथ में था। राजा दाहिर ने उसे अपने पास बुला लिया था। दुर्ग का भार एक ब्राह्मण पुरोहित को सौंप दिया गया था। बिना किसी प्रकार का विरोध किए ही उसने मुसलमानों को दुर्ग समर्पित कर दिया। मुहम्मद-बिन-कासिम ने वहाँ एक मुसलमान गवर्नर नियुक्त किया और स्वयं अपनी सेना लेकर आगे बढा। राजा दाहिर ने रावर की रक्षा की भी कोई विशेष व्यवस्था नहीं की और मुसलमानों का अधिकार इस महत्वपूर्ण नगर पर भी हो गया।

(3) ब्राह्मनाबाद पर अधिकार

मुहम्मद-बिन-कासिम मार्ग के नगरों तथा दुर्गों को लूटता हुआ ब्राह्मनाबाद की ओर बढा, जहाँ राजा दाहिर उसका सामना करने की तैयारी कर रहा था। उसने वहाँ एक विशाल सेना तैयार की थी। राजा दाहिर ने 50,000 सैनिक एकत्रित किए। 712 ई. में मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिंध नदी पार की। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। युद्ध के बीच में राजा दाहिर को एक तीर लगा और वह हाथी से गिर गया। वह तुरंत घोडे पर सवार होकर युद्ध करने लगा। शीघ्र ही मुसलमानों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। उस पर तीरों की बौछार होने लगी। वह पृथ्वी पर गिर गया। एक मुसलमान ने अपनी तलवार के वार से उसके दो टुकड़े कर दिए। उसकी मृत्यु से सेना हतोत्साहित हो गई। कुछ समय तक युद्ध चलता रहा। अंत में हिदुंओं की पराजय हुई। उसकी पत्नी रानी बाई ने भी कुछ समय तक मुसलमानों को रोकने का प्रयास किया, किंतु उसको भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। सिंध का प्रदेश मुसलमानों के अधिकार में आ गया। ब्राह्मनाबाद के युद्ध के संबंधमें इलियट का मत है कि ‘‘यहाँ एक ऐसा भयंकर युद्ध हुआ जो कि पहले कभी नहीं सुना गया था।’’ इस युद्ध से मुहम्मद-बिन-कासिम को राजा दाहिर की पत्नी लाड़ी तथा दो पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी प्राप्त हुईं। रानी ने उससे विवाह कर लिया तथा दोनों पुत्रियों को खलीफा के पास भेज दिया।

(4) अरोर पर अधिकार

ब्राह्मनाबाद से निवृत्त होने पर मुहम्मद-बिन-कासिम ने अरोर की ओर प्रस्थान किया। वह भी शीघ्र उसके अधिकार में आ गया।

(5) मुल्तान की विजय

अरोर की उचित व्यवस्था करने के उपरांत वह मुल्तान की ओर अग्रसर हुआ। उसने मार्ग के कई दुर्गों पर विजय प्राप्त की और उन पर मुसलमानी पताका फहराई। हिंदुओं ने मुहम्मदबिन-कासिम को आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास किया, किंतु वह विजयी होता हुआ तथा नगरों को लूटता हुआ आगे

बढ़ते चला गया। कुछ समय पश्चात् वह मुल्तान पहुँचा। उसने मुल्तान के दुर्ग का घेरा डाला। हिदुंओं ने मुसलमानी सेना का वीरता से सामना किया, किंतु मुसलमानों ने दुर्ग का जल बंद कर दिया। जल की कमी के कारण सैनिक हतोत्साहित हो गए और उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। मुहम्मद-बिन-कासिम ने समस्त सैनिकों को बंदी बनाकर उनकी हत्या करवा डाली। उन नागरिकों को भी मौत के घाट उतार दिया गया जिन्होंने इस्लाम स्वीकार करना अथवा जजिया देने से इंकार कर दिया था। किंतु जिन्होंने जजिया देना स्वीकार किया उनके साथ अच्छा व्यवहार किया गया। इस विजय के पश्चात् उसने भारत के प्रसिद्ध राज्य कन्नौज पर आक्रमण करने की योजना तैयार की, किंतु इस योजना को पूरा करने से पहले उसके जीवन का अंत हो गया।

3.1.6.4. मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु

मुहम्मद-बिन-कासिम का जिस द्रुतगति से उत्थान हुआ उसी द्रुतगति से उसका पतन भी हो गया। उसका अंत बड़ा दुःखद था। कहा जाता है कि मुहम्मद-बिन-कासिम ने राजा दाहिर की दो पुत्रियों को खलीफा के पास भेंटस्वरूप भेजा। जब वे कन्याएँ उसके सामने उपस्थित की गईं तो उन्होंने खलीफा से प्रार्थना की कि वे उसके योग्य नहीं हैं; क्योकि मुहम्मद-बिन-कासिम ने खलीफा के पास भेजने से पूर्व ही उन्हें भ्रष्ट कर दिया था। खलीफा ने इस समाचार को सुनते ही आदेश दिया कि मुहम्मद-बिन-कासिम को कच्ची खाल में सी कर हमारे सामने उपस्थित किया जाए। जब मुहम्मद-बिन-कासिम के पास खलीफा की आज्ञा पहुँची तो उसने उसका विरोध नहीं किया और अपने आपको कच्ची खाल से सिलवा दिया। तीन दिन के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। खलीफा ने उस खाल को राजा दाहिर की कन्याओं के सामने खुलवाया। उस समय उन्होंने स्वीकार किया कि उन्होंने यह कार्य अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए किया था। खलीफा को उन पर बड़ा क्रोध आया और उसने आज्ञा दी कि दोनों को घोड़ों की पूँछ से बँधवाकर उस समय तक घसीटा जाए जब तक उनके प्राणों का अंत न हो जाए और उसके आदेशानुसार ऐसा ही किया गया।

कुछ विद्वान इस कथा की सत्यता में विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि मुहम्मद बिन-कासिम की मृत्यु राजनीतिक कारणों से हुई। खलीफा उसकी बढ़ती हुई शक्ति तथा प्रतिष्ठा के कारण उससे द्वेष करने लगा था। उसी समय पुराने खलीफा के स्थान पर उसका भाई सुलेमान खलीफा बना। वह हज्जाज तथा उसके संबंधियों को घृणा की दृष्टि से देखता था। उसने उसके साथ कठोर व्यवहार किया। मुहम्मद बिन-कासिम हज्जाज का चचेरा भाई और दामाद था। अतः मुहम्मद-बिन-कासिम को खलीफा की आज्ञा से बंदी बनाया गया और उसको इतना कठोर दंड दिया गया कि केवल तीन दिन के पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई।

3.1.7. अरब आक्रमण की सफलता के कारण

अरब आक्रमण की सफलता के कारण निम्नलिखित हैं–

(1) सिंध की राजनीतिक स्थिति

अरब आक्रमण के समय सिंध की राजनीतिक स्थिति बहुत डावांडोल थी। उससमय सिंध प्रांत की ऐसी स्थिति थी कि कोई भी योग्य सेनापति उस स्थिति से लाभ उठाकर उसे अपने अधिकार में कर सकता था। वहाँ राजनीतिक एकता का अभाव था। सिंध की जनसंख्या कम थी और विभिन्न वर्गो में विभाजित थी। सिंध में विभिन्न संप्रदायों तथा धर्म के लोग निवास करते थे जिनको संकट के समय भी संगठित करना एक कठिन कार्य था।

सिंध में उच्च वर्ग के लोगों का अन्य वर्गों के साथ अमानुषिक व्यवहार था, जिसके कारण उनमें उनके प्रति घृणा की भावना जागृत हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने देश में अपने निवासियों के विरुद्ध आक्रमणकारियों का साथ दिया।

उपरोक्त के अतिरिक्त उस समय सिंध प्रांत में अयोग्य शासकों के हाथ में शासन था, जो अपना अधिकांश समय भोग विलास तथा पारस्परिक संघर्षों में व्यतीत करते थे। वे न योग्य सेनापति ही थे और न ही कुशल शासन प्रबंधक। जनता का उन पर बिल्कुल भी विश्वास नहीं था। वे लोकप्रिय शासक नहीं बन सके। इसका परिणाम भारत के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। बहुत से भारतीयों ने देश के प्रति अविश्वास कर मुसलमानों को बहुत सी बातों से अवगत कराया।

सिंध का विभिन्न राज्यों में विभाजन अर्थात् सिंध विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जिन्होंने सम्मिलित रूप से अरब सेना का विरोध नहीं किया।

(2) मुहम्मद-बिन-कासिम की योग्यता

मुहम्मद-बिन-कासिम बड़ा योग्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसमें वे समस्त गुण विद्यमान थे, जो एक कुशल सेनापति में होने चाहिए। उसका व्यक्तित्व भी उत्कृष्ट था। वह उच्चकोटि का सैनिक, संगठनकर्ता तथा सैन्य संचालक था। उस समय भारत में उसका सामना करने की सामर्थ्य किसी भी व्यक्ति में नही थी।

(3) अरब सेना का धार्मिक उत्साह

अरब सेना में बहुत अधिक धार्मिक उत्साह था, जिसका भारतीय सेना में अभाव था। अरब सेना के निरंतर विजयी होने के कारण उनके उत्साह में वृद्धि होती गई। इसके विपरीत हिंदू हतोत्साहित होते चले गए। वे युद्ध में इतनी योग्यता, साहस तथा वीरता का प्रदर्शन नहीं कर सके, जितनी उनसे अपेक्षा की जाती थी।

(4) अरब सेना का संगठन तथा विशालता

अरब सेना का संगठन उच्चकोटि का था। उसमें सीरिया तथा ईरान के प्रसिद्ध सैनिक तथा घुड़सवार थे। उन्होंने युद्ध में तत्परता तथा वीरता का पूर्ण परिचय दिया। अरब सेना विशाल थी। उसकी संख्या अधिक थी। उनके पास युद्ध का सामान अधिक था। ईरान के शासक तथा खलीफा ने अरब सेना को दृढ, संगठित तथा विशाल बनाने में किसी बात की कसर नहीं रखी थी। भारतीय सेना की संख्या मुसलमानों की सेना की संख्या की अपेक्षा बहुत कम थी। उनके पास युद्ध के सामान तथा नवीन हथियारों का भी अभाव था।

3.1.8. अरब आक्रमण का प्रभाव एवं महत्व

(1) राजनीतिक स्थिति पर प्रभाव

अरब आक्रमण का भारतीय तथा सिंध की राजनीतिक स्थिति पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। उनकी यह विजय क्षणिक थी। मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु के कुछ समय बाद ही अरब सत्ता का अंत हो गया और पुनः शासन पर हिंदुओं का अधिकार हो गया। इस संबंध में लेनपून का कथन है, "यह विजय भारत तथा इस्लाम के इतिहास की एक अस्थायी घटना व परिणामहीन विजय थी।"

(2) सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभाव

अरब आक्रमण का राजनीतिक क्षेत्र में विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, किंतु इसके विपरीत संस्कृति के क्षेत्र में इसका बहुत अधिक महत्व है। उस समय भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति इतनी उन्नत थी कि उसके सामने अरबवासी बिल्कुल असभ्य और बर्बर थे। अरबवासियों पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतीय विद्वानों तथा साहित्यकारों का बड़ा आदर किया। भारतीय दर्शन, चित्रकारी आदि कलाओं के विशेषज्ञों ने भी मुसलमानों को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारतीयों के संपर्क में जीवन व्यतीत कर उन्होंने इसका ज्ञान प्राप्त किया। एक बार खलीफा हारूल रशीद ने एक असाध्य रोग की चिकित्सा करने के लिए भारत के वैद्य को बुलाया, जिसको सफलता प्राप्त हुई। वह भारतीय साहित्य तथा विद्वानों का आदर करता था। उसने अनेक भारतीय विद्वानों को अपनी राजधानी बगदाद में आमंत्रित किया और उनकी सहायता से विभिन्न शास्त्रों का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया, जिनका यूरोप में अधिक प्रचार हुआ। इस प्रकार अरबवासियों के प्रयत्न के कारण ही भारत की सभ्यता तथा संस्कृति न केवल मध्य एशिया को ही, वरन् यूरोप के विभिन्न देशों को भी प्रभावित करने में सफल हुई। खलीफा मंसूर के शासन-काल में भारत के बहुत से विद्वान बगदाद ले जाए गए। अरब वाले भारत से 'ब्रह्मा सिद्धांत तथा खंड खाद्यक' नामक ग्रंथ बगदाद ले गए, जहाँ उनका अरबी में अनुवाद किया गया। अरबवासियों को अंकों का ज्ञान भारतीयों से प्राप्त हुआ। इसी कारण उन्होंने उसका नाम 'हिन्दसा' रखा। इस प्रकार यह कहना उचित है कि भारत मध्य काल में अरबों के गुरूपद पर आसीन था। भारतवर्ष ने अरबों को बहुत-सी विद्याओं का ज्ञान करवाया तथा उनके साहित्य तथा कला को प्रभावित किया। बाद में अरबवासियों का भारत से संपर्क कम होने लगा। वे यूनान की सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित हुए, किंतु उनको अपनी सभ्यता की ओर आकर्षित करने का श्रेय भारत को ही प्राप्त है। इस विषय के संबंध में इतिहासकार एच. जी. वेल्स का कथन है कि "मध्य युग में जब यूरोप में अविद्या का प्रचार था, वहाँ ज्ञान का दीपक भारत से प्राप्त करके अरब निवासियों ने जलाया।" जबकि आधुनिक शोधों के आधार पर वेल्स का कथन तर्क रहित प्रतीत होता है।

(3) धार्मिक प्रभाव

अरबों द्वारा भारत में ऐसे धर्म का प्रचार किया गया, जो सरलता तथा बंधुत्व के कारण प्रसिद्ध हुआ तथा जो एकेश्वरवाद में विश्वास करता है, किंतु हिंदुओं को अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर पूर्ण विश्वास था, जिसके कारण इस्लाम धर्म भारतीयों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल नहीं हुआ। केवल उन्हीं व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया, जो इस धर्म को स्वीकार करने के लिए बाध्य किए गए थे। भारत के भावी आक्रमणकारियों को इस आक्रमण द्वारा प्रोत्साहन अवश्य प्राप्त हुआ।

3.1.9. अरबों की शासन व्यवस्था

मुहम्मद-बिन-कासिम का अधिकांश समय युद्ध में व्यतीत हुआ, जिससे वह सिंध की शासन व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सका, किंतु राजा दाहिर के परास्त होने से शासन व्यवस्था में उथल-पुथल हो जाने के कारण उसका इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ। अरबों ने स्थानीय संस्थाओं को शासन-भार सौंप दिया। यह कार्य उन्होंने आवश्यकता के अनुसार किया, क्योंकि वे स्थानीय विधियों, रीति-रिवाजों तथा परंपराओं से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। अरबों के शासन की रूपरेखा निम्न प्रकार है–

(1) भूमि की व्यवस्था

भारत विजय के परिणामस्वरूप अरबवासियों के हाथ में समस्त भूमि आ गई थी, किंतु मुसलमान सैनिकों को कृषि करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। यह भार हिंदुओं को ही सहन करना पड़ा। जिनकी स्थिति दासों से किसी प्रकार कम नहीं थी। कुछ सैनिकों को अनुदान के रूप में भूमि प्राप्त हुई। शेष को उनका निश्चित वेतन राजकोष से मिलता था। उस समय धार्मिक अनुदान की प्रथा थी। बहुत से फकीरों, महात्माओं, साधु-संतों तथा मठाधीशों को भूमि अनुदान के रूप में दी गई।

(2) सैनिक व्यवस्था

अरब आक्रमण के बाद बहुत से अरब सैनिक भारत में स्थाई रूप से निवास करने लगे। उन्होंने भारतीय स्त्रियों से विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना आरंभ कर दिया। स्थानीय सेना कुछ अंशों से भंग कर दी गई, किंतु कुछ स्थिर रही। भारतीय सैनिकों को अरब सेना में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे अरब सैनिकों में विलासिता का उदय हुआ, जिसका उनकी युद्ध-प्रिय भावनाओं पर दूषित प्रभाव पड़ा। उन्होंने व्यापारियों का रूप धारण करके स्वयं को सेना से पृथक कर लिया। आवश्यकता के समय किराए से सैनिक सेना में भर्ती करने की प्रथा को मुसलमानों ने अपना लिया। मुस्लिम शासन के अनुसार सैनिकों को लूट के माल का 4/5 भाग मिलता था और 1/5 भाग खलीफा के पास भेज दिया जाता था।

(3) राजस्व व्यवस्था

राजस्व के प्रमुख साधन कर थे। नहरों द्वारा सींचे जाने वाले खेतों के उपज का 2/5 भाग और अन्य प्रकार से सींचे जाने वाले खेतों का 1/4 भाग कर के रूप में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों से जजिया लिया जाता था, जो इस्लाम धर्म अंगीकार नहीं करते थे, परंतु स्त्रियों, बच्चों तथा ऐसे व्यक्तियों से जो काम करने के योग्य नहीं थे यह कर नहीं लिया जाता था।

(4) न्याय व्यवस्था

न्याय व्यवस्था मुस्लिम विधि के अनुसार की जाती थी चाहे वादी अथवा प्रतिवादी, मुसलमान अथवा हिंदू हो। न्याय करने का अधिकार केवल काजी को प्राप्त था। दंड-विधि कठोर थी। चोरी की गणना भयानक अपराधों में की जाती थी। चोर की पत्नी तथा बच्चों को जीवित आग में जला दिया जाता था। इस प्रकार अरब, मौर्य शासकों से भी कठोर थे। हिंदुओं को मुसलमान यात्रियों के लिए तीन दिन के भोजन की व्यवस्था करनी आवश्यक थी। अमीरों तथा सरदारों को अपने क्षेत्र में अपराधियों को प्राण-दंड देने के अधिकार प्राप्त थे। काजी हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों के साथ अधिक पक्षपात का व्यवहार करता था, किंतु राजनैतिक व सार्वजनिक अपराधों के संबंधों में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता था। हिंदुओं के पारस्परिक तथा व्यक्तिगत मुकदमों का निर्णय पंचायत करती थी।

(5) धार्मिक व्यवस्था

प्रारंभ में मुसलमानों की धार्मिक नीति हिंदुओं के प्रति बड़ी कठोर तथा असहिष्णुतापूर्ण थी। उन्होंने हिंदुओं के साथ बहुत ही कठोर व्यवहार किया। बालकों तथा स्त्रियों के अतिरिक्त समस्त सैनिकों का वध कर दिया जाता था। बालकों तथा स्त्रियों को दास बनाया जाता था। बाद में अरब शासकों ने अनुभव किया कि इस प्रकार के व्यवहार से वे भारत में स्थाई राज्य की स्थापना करने में सफल नहीं हो सकते थे। अतः उन्होंने हिंदुओं के प्रति अपने व्यवहार में परिवर्तन आरंभ कर दिया। उन्होंने उनकी सेवाओं की प्राप्ति का प्रयत्न करना आरंभ किया। अब हिंदुओं के लिए धर्म परिवर्तन कर इस्लाम धर्म की

दीक्षा प्राप्त करना आवश्यक नहीं था। वे जजिया कर देकर प्राणों की रक्षा कर सकते थे। बाद में उन्हें सेना तथा शासन में स्थान प्राप्त होने लगा और वे शासन के विभिन्न अंग बन गए।

3.1.10. भारत में अरबों की अस्थायी सफलता : एक प्रश्न

भारतीय इतिहास के अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि भारत में अरब राज्य कोई स्थाई प्रभाव डालने में समर्थ नहीं हुआ। यह सत्य है कि अरबवासियों का प्रभाव क्षेत्र पर्याप्त समय तक सिंध तथा मुल्तान तक ही सीमित रहा एवं वे उससे आगे नहीं बढ़ पाए। भारत के अन्य प्रदेशों को अख्बवासियों का आक्रमण तथा उनकी सिंध विजय बिल्कुल भी प्रभावित नहीं कर सके। सिंध की विजय तत्कालीन इतिहास में एक कथा मात्र थी। इस विशाल देश के बहुत छोटे से भाग पर इसका प्रभाव पड़ा। सर स्टैनली लेनपून के अनुसार, ''अरबवासियों ने सिंध प्रदेश पर अधिकार किया, परंतु यह विजय भारत तथा इस्लाम के इतिहास में एक कथा-मात्र थी। यह एक ऐसी विजय थी, जिसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।'' प्रसिद्ध इतिहासकार टाड का कथन है कि ''इस विजय का भारत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसके द्वारा संपूर्ण भारतवर्ष में हल-चल सी मच गई।'' किंतु टाड का कथन सत्य से परे है। अरबवासियों का विस्तार राजस्थान से आगे नहीं हो पाया और शेष भारत में पूर्ववत कार्य चलता रहा। इसके अतिरिक्त सिंध प्रदेश पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने से भी भारतीयों के सामने विशेष भय एवं संकट उपस्थित नहीं हुआ। उन्होंने इस प्रदेश से अरबवासियों को निकालने के लिए बिल्कुल भी प्रयास नहीं किया। वे उसको केवल एक प्रादेशिक घटना के रूप में मानते थे। अरबों की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

(1) भारतीय सभ्यता का उन्नत होना

भारतवासियों की सभ्यता एवं संस्कृति अरबवासियों की सभ्यता एवं संस्कृति की अपेक्षा बहुत उन्नत थी। भारतीय सभ्यता पर अरबों का किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा। ब्राह्मणों ने हिंदुओं की रक्षा की और उनको इस्लाम धर्म में विलीन नहीं होने दिया।

(2) मुहम्मद-बिन-कासिम की असामयिक मृत्यु

मुहम्मद-बिन-कासिम की असामयिक मृत्यु से अरबवासियों को गहरा आघात पहुँचा। उनकी शक्ति शिथिल हो गई और राजपूतों ने उनको आगे नहीं बढ़ने दिया। योग्य सेनापति के अभाव में मुसलमानों का भारत विजय का कार्य रुक गया। अन्य प्रदेशों के राजपूत बड़े शक्तिशाली थे। वे सदा भीषण संग्राम के लिए उद्यत रहते थे।

(3) भारत का छोटे-छोटे राज्यों में विभाजन

भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। आक्रमणकारियों को उनके राज्यों पर अधिकार करने के लिए अलग-अलग राज्यों से युद्ध करना पड़ता था, जिससे उनकी शक्ति क्षीण होते चली गई। अरबवासी अपने मूल प्रदेश से दूर हटते जाते थे। वह किसी भी युद्ध में पूर्ण विजयी नहीं बन सके, जिससे अधिकांश भारत उनके हाथ में नहीं आया अन्यथा उनकी शक्ति भारत में दृढ़ हो जाती।

(4) खलीफाओं की उदासीनता

प्रारंभ में खलीफा ने मुहम्मद-बिन-कासिम की सेना को दृढ एवं सुसज्जित करने में बहुत अधिक सहायता प्रदान की, किंतु कुछ समय उपरांत जब खलीफा के पद में परिवर्त्तन हो गया तो उसने उसकी सहायता से हाथ खींच लिया। खलीफा के ही आदेश के द्वारा मुहम्मद बिन-कासिम का वध कर दिया गया।

(5) सिंध की आर्थिक स्थिति

सिंध प्रदेश आर्थिक दृष्टि से उन्नत नहीं था। उसकी आर्थिक स्थिति बड़ी डावांडोल थी। अरबवासियों को सिंध विजय के उपरांत सामग्री व अन्य साधनों के अभाव का अनुभव करना पड़ा। खलीफा व अन्य पदाधिकारियों को इस विजय से आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ, जिसके कारण वे इस प्रदेश के प्रति उदासीन बन गए। इसके अतिरिक्त सिंध को आधार बनाकर शेष भारत पर विजय करना बहुत कठिन कार्य था, क्योंकि रास्ते में राजस्थान का मरूस्थल पड़ता था, जिसको पार करना असंभव था। यदि अरबवासी किसी अन्य मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए होते तो उनको भारत के अन्य शक्तिशाली राज्यों का सामना करना पड़ता और उनका सामना करने में वे सक्षम नहीं थे।

(6) प्रशासन के प्रति अनभिज्ञता

अरबवासी प्रशासनिक व्यवस्था से अनभिज्ञ थे। वे भारत में निवास करने लगे किंतु उन्होंने शासन व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया, जिससे सुदृढ शासन की स्थापना करना कल्पना मात्र ही रहा। उत्तम प्रशासन की स्थापना तभी संभव है जब संगठन का कार्य विजय के साथ-साथ चलता रहे।

(7) नियंत्रण का अभाव

सिंध के शासकों पर खलीफा तथा अन्य पदाधिकारियों का नियंत्रण नाम मात्र का था। इस पर बगदाद से उचित नियंत्रण रखना नितांत असंभव था। अतः ये लोग स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे जिसका प्रभाव हितकर नहीं हुआ। यदि लोग खलीफा के अधीन रहकर शासन कार्य करते तो खलीफा उनकी ओर उदासीन नहीं होते और उनकी सहायता करते रहते।

(8) धार्मिक उत्साह का अभाव

खलीफाओं में धार्मिक उत्साह का अंत हो गया था। वे अन्य राजाओं की भाँति विलासी जीवन व्यतीत करने लगे थे जिससे उनका नैतिक पतन होने लगा और शासन में दुर्बलता के चिह्न उत्पन्न होने लगे। यह भी अरबों की असफलता का एक प्रमुख कारण है।

(9) खिलाफत का अंत

मध्य एशिया में तुर्की की शक्ति के उदय होने से शासक अवनति की ओर अग्रसर होने लगे और खिलाफत का अंत हो गया। शासन सत्ता पर तुर्कों का अधिकार हो गया। इसका प्रभाव सिंध पर भी पड़ा। अरब के शासकों का ध्यान मुख्यतः अपनी स्थिति सुदृढ बनाने में लगा रहा। उनका सारा समय और पूरा प्रयास इसी समस्या पर केंद्रित रहा कि वे किसी प्रकार तुर्कों की बढ़ती शक्ति से अपने को सुरक्षित रख सकें। उन्होंने सिंध की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया।

अतः यह स्वीकार करना होगा कि सिंध विजय का भारत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और न ही उनका राज्य भारत में स्थाई रूप धारण कर सका। अरब देश व भारत की सभ्यता व संस्कृति स्थाई रूप से अधिक समय तक देश के अन्य भागों में एक दूसरे के संपर्क में नहीं रह सके। इस प्रकार अरबों की सिंध विजय अस्थायी एवं प्रभाव रहित रही।

3.1.11. सारांश

अरबों की सिंध विजय सातवीं शताब्दी में हुई। प्रथम आक्रमणकारी मुहम्मद-बिन-कासिम ने खलीफा की सहायता से सिंध पर आक्रमण किया। उस समय सिंध प्रदेश पर राजा दाहिर शासन कर रहा था। अरब आक्रमण के कारण इस प्रकार थे :– (1) सिंध के समुद्री डाकुओं द्वारा अरबी जहाजों की लूट (2) लंका के राजा द्वारा भेजे गए धन का डाकुओं द्वारा अपहरण (3) राजा दाहिर द्वारा क्षतिपूर्ति न करना।

मुहम्मद-बिन-कासिम के मुख्य आक्रमण:-(1) देवल आक्रमण (2) नीरून पर अधिकार (3) ब्राह्मनाबाद विजय (4) अरोर पर अधिकार (5) मुल्तान विजय।

परिणाम – अरबों के आक्रमण में राजा दाहिर की मृत्यु हो गई। दाहिर की पत्नी लाड़ी से मुहम्मद-बिन-कासिम ने विवाह कर लिया और उसकी दो पुत्रियों सूर्यदेवी और परमालदेवी को खलीफा की सेवा में भेज दिया।

मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु – विद्वानों का विचार है कि राजा दाहिर की कन्याओं ने स्वयं को खलीफा के समक्ष अपवित्र बताया और अपवित्रता का दोष मुहम्मद-बिन-कासिम पर लगाया परिणाम स्वरूप क्रुद्ध खलीफा ने आदेश दिया कि मुहम्मद-बिन-कासिम को बैल की कच्ची खाल से सी कर यहाँ भेजा जाए। यही कासिम की मृत्यु का आधार बना। अन्य विद्वानों का मत है कि मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु अन्य राजनीतिक कारणों से हुई थी।

अरब आक्रमण की सफलता के कारण – (1) सिंध की राजनीतिक स्थिति (2) मुहम्मद-बिन-कासिम का साहस एवं सैन्य संचालन(3) अरबों का धार्मिक उत्साह (4) अरब सेना के संगठन की उत्तमता (5) अरब सेना की विशालता।

अरब आक्रमण का प्रभाव – अरब आक्रमण का सिंध की राजनीतिक स्थिति पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु के बाद हिंदुओं का शासन पर फिर से अधिकार हो गया और आक्रमण का प्रभाव जाता रहा। **सांस्कृतिक प्रभाव** – भारत की सिंध प्रांत की संस्कृति पर अरबों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा किंतु स्थायी नहीं हो सका, जबकि भारतीय ज्योतिष, दर्शन, चित्रकारी, वैद्यक आदि के विशेषज्ञों ने अरबों को बहुत अधिक प्रभावित किया।

धार्मिक प्रभाव – इस्लाम धर्म का बहुत कम प्रभाव भारत पर पड़ा। केवल शक्ति के द्वारा ही भारतीयों को मुसलमान बनाया जा सका। श्रद्धापूर्वक किसी भारतीय ने इस्लाम स्वीकार नहीं किया।

अरबों की असफलता के कारण – (1) भारतीय सभ्यता का उन्नत होना (2) मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु (3) भारत के छोटे-छोटे राज्यो में विभाजन (4) खलीफा की उदासीनता (5) सिंध की आर्थिक स्थिति का असंतोषजनक होना (6) अरबों का शासन कला से अनभिज्ञ होना (7) नियंत्रण का अभाव (8) धार्मिक उत्साह का अभाव (9) खिलाफत प्रथा का अंत।

3.1.12. बोध प्रश्न

3.1.12.1. लघुउत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम के उत्थान पर प्रकाश डालिए।
2. हजरत मुहम्मद साहब का परिचय दीजिए।
3. खिलाफत से आप क्या समझते हैं?
4. अरब आक्रमण के समय भारत की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
5. मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु के विषय में आप क्या जानते हैं?
6. भारत पर अरब आक्रमण के तीन प्रभाव लिखिए।
7. भारत पर अरब आक्रमण का महत्व स्पष्ट कीजिए।

3.1.12.2. दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. हजरत मुहम्मद साहब पर एक निबंध लिखिए।

2. खिलाफत प्रथा का विस्तृत विवरण दीजिए।
3. मुहम्मद-बिन-कासिम की विजय के विषय में विस्तार से लिखिए।
4. अरब आक्रमण की सफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।
5. अरब आक्रमण के प्रभाव एवं महत्व का उल्लेख कीजिए।
6. अरबों की शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
7. अरबों की भारत में सफलता/असफलता का मूल्यांकन कीजिए।

3.1.13. संदर्भ ग्रंथ

1. मजूमदार तथा पुसलकर : दी स्ट्रगल फॉर दि एम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
2. मजूमदार तथा पुसलकर : दि डेल्ही सल्तनत, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।

खंड-3 : उत्तर भारत में मुसलमानों का आगमन
इकाई–2 : महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमण

इकाई की रूपरेखा

3.2.1. उद्देश्य
3.2.2. प्रस्तावना
3.2.3. महमूद गजनवी
3.2.3.1. महमूद गजनवी का प्रारंभिक जीवन
3.2.3.2. महमूद गजनवी की विजय यात्रा
3.2.3.3. 11वीं सदी ई. में भारत की स्थिति
3.2.3.4. महमूद गजनवी का भारत पर आक्रमण
3.2.3.5. महमूद गजनवी के आक्रमणों का प्रभाव
3.2.3.6. महमूद गजनवी लुटेरा : एक ऐतिहासिक विवाद
3.2.4. मुहम्मद गोरी
3.2.4.1. मुहम्मद गोरी का प्रारंभिक जीवन
3.2.4.2. 12वीं सदी ई. में भारत की स्थिति
3.2.4.3. मुहम्मद गोरी के भारत पर आक्रमण
3.2.4.4. मुहम्मद गोरी का अन्य विजय
3.2.4.5. मुहम्मद गोरी का चरित्र
3.2.5. सारांश
3.2.6. बोध प्रश्न
3.2.6.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
3.2.6.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.2.7. संदर्भ ग्रंथ

3.2.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पूर्व मध्यकाल में भारत पर हुए तुर्क आक्रमणों पर प्रकाश डालना है। तुर्क आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी एवं मुहम्मद गोरी उल्लेखनीय हैं। तुर्कों द्वारा भारत पर किस प्रकार आक्रमण किए गए एवं विजय प्राप्त की गईं? इन्होंने भारत पर अपना राज्य किस प्रकार स्थापित किया तथा तुर्क आक्रमणों का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? इन सभी तथ्यों की विस्तृत विवेचन करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

3.2.2. प्रस्तावना

भारत में अरबों के प्रवेश के साथ ही इस्लाम का भारत में उदय होता है। तत्पश्चात् तुर्कों के आक्रमणों से भारत में सत्ता परिवर्तन होता है और मुस्लिम सुल्तानों का शासन प्रारंभ हो जाता है। तुर्क आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी एवं मुहम्मद गोरी उल्लेखनीय हैं। इनके आगमन के परिणामस्वरूप भारत के सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आदि क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। इन समस्त क्षेत्रों में दो

भिन्न विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने भारत को दो विरोधी विचारधाराओं में विभक्त किया। इससे भारतीय एकता को बड़ा आघात पहुँचा। तुर्कों ने भारत को सिर्फ लूटा ही नहीं, बल्कि पृथ्वीराज चौहान जैसे शक्तिशाली शासक को पराजित करके सदैव के लिए राजपूत राजवंशों की नींव को कमजोर कर दिया।

3.2.3. महमूद गजनवी

3.2.3.1. महमूद गजनवी का प्रारंभिक जीवन

तुर्क मध्य एशिया के निवासी थे। जनसंख्या बढ़ने पर उन्होंने अन्य देशों की ओर प्रस्थान किया। कुछ ही समय में मध्य एशिया के विभिन्न राज्यों ने इनके गुणों के कारण इनको सेना में भर्ती करना आरंभ किया। ये लोग हष्ट-पुष्ट तथा सुंदर थे। इनकी प्रवृत्ति सामरिक थी। धीरे-धीरे इन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार किया और नए राज्यों की स्थापना की। गजनी में अल्पतगीन नामक तुर्क सरदार ने 961 ई. में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उसकी मृत्यु के उपरांत अल्पतगीन के दो तीन वंशजों ने गजनी पर शासन किया। किंतु इतिहास में उनका कोई स्थान नहीं है। अल्पतगीन के दामाद सुबुक्तगीन ने 977 ई. में इस वंश के अंतिम शासक का अंत कर गजनी पर प्रभुत्व स्थापित किया और नए राजवंश की स्थापना की। सुबुक्तगीन ने 20 वर्षों तक शासन किया और 997 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। बीस वर्ष के शासनकाल में उसने एक विशाल एवं सुदृढ़ राज्य की स्थापना की।

सुबुक्तगीन की मृत्यु के उपरांत उसका ज्येष्ठ पुत्र महमूद गजनी के सिंहासन पर आसीन हुआ। उसने अपने पिता द्वारा स्थापित राज्य को और भी अधिक विशाल बनाने की चेष्टा की। उसने अपने पिता के स्वप्नों को साकार कर उसकी समस्त आशाओं को पूर्ण किया। महमूद ने एशिया के शक्तिशाली शासकों का दर्प चूर-चूर कर सुदूर प्रदेशों तक विजय दुंदभी बजाई।

महमूद गजनवी, योग्य पिता का योग्य पुत्र था। महमूद का जन्म 1 नवंबर, 971 ई. में हुआ। वह बड़ा वीर, महत्वाकांक्षी, साहसी तथा धार्मिक व्यक्ति था। उसमें धार्मिक उत्साह एवं कट्टरता कूट-कूट कर भरी थी। वह प्रत्येक समय धन तथा शक्ति हस्तगत करने की इच्छा रखता था। उसमें एक कुशल सैनिक तथा योग्य सेनापति के गुण विद्यमान थे। उसने प्रारंभ से ही यह संकल्प कर लिया था कि वह अपना अधिकांश समय तथा साम्राज्य के समस्त साधन इस्लाम धर्म के प्रचार में व्यतीत करेगा और मूर्ति-पूजकों का भक्षण करेगा। उसने सुबुक्तगीन की बड़ी सेवा की। सुबुक्तगीन उसके कार्यों से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसको खुरासान का प्रांतीय सूबेदार नियुक्त किया। जिस समय सुबुक्तगीन की मृत्यु हुई वह खुरासान में था। अमीरों ने सुबुक्तगीन के छोटे पुत्र इस्माइल को सुल्तान घोषित किया। महमूद खुरासान से अपनी विशाल सेना लेकर गजनी की ओर चल पड़ा। दोनों भाइयों की सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ। इस्माइल बंदी बना लिया गया और गजनी पर महमूद का अधिकार हो गया। 998 ई. में महमूद का राज्यारोहण बड़े ठाठ-बाट तथा शान-ओ-शौकत के साथ संपन्न हुआ। उस समय गजनी में अफगानिस्तान और खुरासान तक सम्मिलित थे। बगदाद के खलीफा ने भी महमूद को यमीन-उदौला तथा अमीन-उल-मिल्लत की पदवी प्रदान की थी।

3.2.3.2. महमूद गजनवी की विजय यात्रा

अपने कनिष्ठ भ्राता इस्माइल को परास्त कर महमूद गजनी का स्वामी बना। वह बड़ा प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसने सिंहासन पर आसीन होते ही एक विशाल साम्राज्य की योजना बनाई जिसे पूरी करने में वह सफल हुआ। उसने अपने पूर्वजों के राज्य में बहुत वृद्धि की। राज्यरोहण के अगले वर्ष ही

समनी वंश के उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा आरंभ हुआ। उसने इस संघर्ष से लाभ उठाया। उसने खुरासान पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार महमूद को अपने आरंभिक काल में ही यश की प्राप्ति हुई।

3.2.3.3. 11वीं सदी ई. में भारत की स्थिति

राजनैतिक स्थिति

हर्ष की मृत्यु के उपरांत भारत में कोई भी ऐसा सम्राट नहीं हुआ, जिसमें इतनी शक्ति हो कि वह भारत को राजनीतिक सूत्र में संगठित कर, बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करने में सफल होता। अतः भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। भारत के कुछ प्रदेशों जैसे सिंध तथा मुल्तान पर अरब वाले अपना राज्य स्थापित कर चुके थे। शेष भारत पर हिंदू राजा, राज्य कर रहे थे। ये राजवंश भारत के शत्रु के विरुद्ध भी एक झंडे के नीचे एकत्र नहीं हो सके, जिससे मुसलमानों को भारत में प्रविष्ट होने में असुविधा का सामना नहीं करना पड़ा। उन्होंने एक-एक कर भारतीय राजाओं को परास्त किया। उस समय भारत में निम्नलिखित राज्य विद्यमान थे–

(1) पंजाब का हिंदू शाही राज्य– भारत के उत्तर पश्चिम में प्रथम हिंदू राज्य था। उसका विस्तार चिनाब नदी से हिंदुकुश पर्वत तक था। इस राज्य के राजाओं को मुसलमानों से कई भीषण संग्राम करने पड़े। इनके ही कारण अरबवासी उत्तरी भारत में प्रवेश नहीं कर सके थे। महमूद के आक्रमण के समय इस वंश का राजा जयपाल था, जो बड़ा वीर तथा कुशल सेनापति था। उसका सुबुक्तगीन से भी युद्ध हुआ था।

(2) कश्मीर राज्य– दूसरा कश्मीर राज्य था। इस समय वहाँ एक स्त्री शासन कर रही थी, यहाँ के प्रदेशों में अराजकता फैली हुई थी।

(3) कन्नौज राज्य– कश्मीर के पूर्व में कन्नौज का राज्य था। इस राज्य की बागडोर राज्यपाल के अधिकार में था, जो बड़ा अयोग्य शासक था जिसके कारण वहाँ की शासन व्यवस्था बड़ी डांवाडोल थी।

(4) बंगाल का राज्य– बंगाल पर पाल वंश के राजा का अधिकार था। वह भी अधिक शक्तिशाली राज्य नहीं था। उसका कन्नौज से संघर्ष रहता था। दक्षिण के चोल वंश के प्रसिद्ध सम्राट राजेंद्र चोल ने उसे बुरी तरह परास्त कर उसकी शक्ति क्षीण कर डाली थी। इस प्रदेश पर, दूर होने के कारण महमूद ने आक्रमण नहीं किया।

(5) गुजरात के राज्य– गुजरात पर चालुक्यों, बुंदेलखंड में चंदेलों और मालवा में परमारों का आधित्य था। पहले इन राज्यों पर कन्नौज का अधिकार था, किंतु बाद में कन्नौज की शक्ति कम होते ही यहाँ नए राजवंशों का उदय हुआ, जिन्होंने अपने को कन्नौज राज्य से स्वतंत्र कर लिया।

(6) चोल राज्य– दक्षिण में चोलों का राज्य था।

(7) चालुक्यों के राज्य– दक्षिण में चालुक्यों के विशाल राज्य थे, जिनमें पारस्परिक संघर्ष हो रहा था। इस प्रकार भारत विभिन्न राज्यों में विभक्त था।

अरब आक्रमण के उपरांत भारत पर किसी विदेशी जाति का आक्रमण नहीं हुआ था। इसके कारण भारतीयों ने भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। उनको विदेशी आक्रमण का भय नहीं रहा। उन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग पारस्परिक संघर्षों में किया। इनमें राष्ट्रीय गौरव का अभाव था। उस समय भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जो उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करता और उनको शिक्षा प्रदान करता कि भारत प्रत्येक व्यक्ति से अपने कर्तव्य का पालन करने की आशा करता है।

सामाजिक स्थिति

समस्त देश में अराजकता एवं अव्यवस्था फैलने के कारण भारतीयों का सामाजिक स्तर बहुत गिर गया था। समस्त समाज विभिन्न श्रेणियों में विभक्त था। उनमें ऊँच-नीच की भावना बहुत अधिक विद्यमान थी। उनमें से कुछ अपने आपको बहुत ऊँचा समझने लगे तथा अन्य जातियों के व्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। जाति बंधन बड़े जटिल हो गए थे और उसका आधार 'कर्म' न होकर 'जन्म' हो चुका था। समाज में स्त्रियों का सम्मान कम हो गया था। वे भोग-विलास की सामग्री समझी जाने लगी थीं। भारत का विदेशों से संबंध विच्छेद हो गया था, जिसके कारण विदेशों में होने वाली प्रतिक्रियाओं से भारतीय अनभिज्ञ रह गए। इस कारण इस काल में भारतीयों ने किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं की।

धार्मिक स्थिति

भारत की धार्मिक स्थिति दिन-प्रतिदिन पतन की ओर अग्रसर हो रही थी। इस क्षेत्र में भारतीयों की दशा शोचनीय थी। इस स्थिति से उबारने का अथक परिश्रम स्वामी शंकराचार्य ने किया, किंतु अल्प आयु में मृत्यु हो जाने के कारण वे अपने कार्य में सफल नहीं हो सके। वे हिंदूधर्म को शुद्ध करने में सफल नहीं हुए। उनकी सेवाएँ हिंदू धर्म के लिए महान थी। इस समय के लोगों में आध्यात्मिक उन्नति की ओर विशेष चाव नहीं था। इस समय खुले मार्ग का बोलवाला था, जिसकी प्रमुख शिक्षा खाओ, पियो और भोजन करो थी। इससे शिक्षण संस्थाएँ भी प्रभावित हुई, जिसका परिणाम शिक्षित वर्ग तथा विद्यार्थियों पर विशेष रूप से पड़ा और उनका जीवन कलुषित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मानव की प्रवृत्ति तथा आसक्ति, भोग-विलास की ओर बढ़ने लगी। मठों तथा विहारों में भी इसने घर कर लिया। जब धर्म के ठेकेदारों का ही जीवन अपवित्र तथा कलुषित हो गया तो साधारण जनता का तो क्या कहना था। इस समय भारत में देवदासी प्रथा आरंभ हो गई थी। प्रत्येक मंदिर में कुछ युवक तथा सुंदर अविवाहित कन्याएँ निवास करती थीं। इनका मुख्य कार्य मंदिर के आराध्य देवता की उपासना, सेवा आदि करना था, किंतु बाद में इनको भोग-विलास का साधन समझा जाने लगा। अतः मठ, विहार, शिक्षण संस्थाएँ आदि सबका जीवन कलुषित हो गया और जनता को उचित धार्मिक शिक्षा प्राप्त होनी असंभव हो गई।

आर्थिक स्थिति

भारत की आर्थिक स्थिति उन्नत थी। भारत धन-धान्य से पूर्ण था। भारत की अधिकांश जनता का मुख्य उद्यम कृषि था। भारत की उपजाऊ मिट्टी तथा खनिज पदार्थों की बहुलता के कारण भारतीयों को अपनी आजीविका के उपार्जन में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। राजाओं तथा उच्च कुल के व्यक्तियों का संपत्ति पर एकाधिकार था। उनकी आय बहुत अधिक थी। राजाओं तथा जनता का जीवन कलुषित था- वे अपना अधिकांश धन भोग-विलास में व्यय करते थे। दान आदि के रूप में अत्यधिक धन मंदिर व अन्य सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं को दिया जाता था। इसके कारण मंदिरों की आय बहुत अधिक थी। किंतु आम आदमी को इतना अवश्य मिल जाता था कि उनकी दैनिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती थी और इनकी पूर्ति के लिए विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। बाह्य व्यापार भी उन्नत था। इस उन्नत आर्थिक दशा के कारण ही भारत विश्व में 'सोने की चिड़िया' के नाम से विख्यात था। भारत के धन को हस्तगत करने के लालच से ही महमूद गजनवी भारत पर आक्रमण करने के लिए आकृष्ट हुआ। वह भारत से अतुल संपत्ति लूटना चाहता था।

3.2.3.4. महमूद गजनवी का भारत पर आक्रमण

आक्रमण के उद्देश्य- महमूद गजनवी के विभिन्न आक्रमणों के उद्देश्य निम्नलिखित थे-

(1) इस्लाम धर्म का प्रचार

कुछ विद्वानों की धारणा है कि वह सैनिक शक्ति द्वारा इस्लाम धर्म का प्रचार भारत में करना चाहता था। उसने प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण करने की शपथ ली थी।

(2) संपत्ति प्राप्त करना

कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं हैं कि महमूद ने भारत में इस्लाम के प्रचार के लिए आक्रमण किए। उनके अनुसार उसके भारतीय आक्रमण मंदिरों में एकत्रित संपत्ति हस्तगत करने के उद्देश्य से किए गए थे। यह धारणा सत्य के बहुत समीप है। भारत के धन पर ही उसकी लालची आँखें थी। और इसी से प्रभावित होकर उसने भारत पर आक्रमण किए। उसे मध्य एशिया में अपने साम्राज्य के विस्तार को दृढ़ रखने के लिए बहुत धन की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति वह भारत से प्राप्त किए धन के द्वारा करता था। इसी कारण उसने राज्यों की राजधानियों पर आक्रमण नहीं कर समृद्धिशाली नगरों तथा प्रसिद्ध व धन-धान्य से पूर्ण मंदिरों को ही अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह भारत में अपने राज्य का विस्तार नहीं चाहता था। यदि उसका भारत में राज्य स्थापित करने का उद्देश्य होता तो वह राजाओं को परास्त कर उनके राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करता। संभवतः वह मध्य एशिया की राजनीति में इतना अधिक व्यस्त रहा कि भारत में राज्य का विचार उसके मस्तिष्क में उत्पन्न ही नहीं हुआ।

महमूद गजनवी का भारत पर आक्रमण

वह शीतकाल के आरंभ में भारत पर आक्रमण करता था और ग्रीष्म काल के आरंभ होते ही गजनी वापस चला जाता था। लगभग, प्रत्येक आक्रमण में उसके समय-विभाग का क्रम इसी प्रकार रहा। अपने साम्राज्य की उचित व्यवस्था करने के उपरांत उसने भारत पर आक्रमण किए। उसने भारत पर सत्रह आक्रमण किए जिनका वर्णन निम्न है-

पंजाब पर आक्रमण

महमूद गजनवी ने सर्वप्रथम पंजाब के राजा जयपाल पर आक्रमण किया जो उसके पिता सुबुक्तगीन का कट्टर शत्रु था। महमूद ने उसके राज्य के सीमांत दुर्गम प्रदेशों पर आक्रमण कर उनको लूटा तथा उनके कई प्रदेशों पर अधिकार किया। जब राजा जयपाल को यह समाचार विदित हुआ तो उसने आक्रमण करने के अभिप्राय से एक विशाल सेना का संगठन किया। इसी बीच महमूद अपनी सेना लेकर भारत की ओर बढ़ा। जयपाल युद्ध के लिए तैयार था। दोनों सेनाओं में पेशावर के निकट भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में महमूद ने अपनी अश्वारोही सेना का सफलतापूर्ण संचालन किया जिसके कारण महमूद विजयी हुआ। यद्यपि राजा जयपाल ने बड़ी वीरता तथा उत्साह के साथ मुसलमानों की सेना का सामना किया, किंतु जयपाल अपने संबंधियों सहित बंदी बना लिया गया। बंदी अवस्था में वह महमूद के सामने उपस्थित किया गया। उसे मुक्त कर दिया गया। उसने उसके बदले बहुत सा धन तथा हाथी देने का वचन दिया। इसके बाद महमूद ने राजा जयपाल की राजधानी वाहिंद पर आक्रमण किया और वहाँ से लूट-मार कर अतुल धन प्राप्त किया। अंत में दोनों में संधि हो गई। राजा जयपाल को बहुत अधिक धन देना पड़ा। राजा जयपाल अपनी पराजय के कारण बहुत दुःखी हुआ। वह इस अपमान को अधिक समय तक सहन नहीं कर सका और अपना राज्य अपने पुत्र आनंदपाल को सौंपकर स्वयं चिता में जलकर भस्म हो गया। तत्पश्चात् उसका पुत्र आनंदपाल 1002 ई. में सिंहासन पर आसीन हुआ।

सीमांत नगरों पर आक्रमण

1001 ई. में महमूद ने सीमांत नगरों तथा दुर्गों पर आक्रमण कर सीमांत के समस्त प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। वहाँ उसने अपने शासकों की नियुक्ति की।

भेरा पर आक्रमण

1001 ई. में महमूद ने तीसरा आक्रमण सिंधु नदी पार कर झेलम नदी के तट पर स्थित भेरा नामक स्थान पर किया। वहाँ के राजा ने गजनी की सेना का बड़ी वीरता से सामना किया, किंतु विजय महमूद की ही रही। भेरा का राज्य उसने अपने राज्य में सम्मिलित किया। वहाँ के राजा ने आत्महत्या कर ली थी।

मुल्तान पर आक्रमण

1005 ई. में महमूद ने मुल्तान पर चौथा आक्रमण किया। इस समय मुल्तान पर अब्दुल फतह दाऊद शासन कर रहा था। वह इस्लाम धर्म का पालन पूर्णरूप से नहीं करता था, जिसके कारण महमूद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। मार्ग की कठिनाईयों का अनुमान करके महमूद ने पंजाब के राजा आनंदपाल से अपनी सेना को उसके राज्य से ले जाने की प्रार्थना की। किंतु उसने महमूद की प्रार्थना की ओर ध्यान नहीं दिया। वह महमूद का सामना करने के लिए विशाल सेना लेकर पेशावर की ओर चल पड़ा। अतः महमूद को पहले राजा आनंदपाल से युद्ध करना पड़ा। राजा आनंदपाल युद्ध में परास्त हुआ। उसने विवश होकर कश्मीर में शरण ली। इस विजय के बाद महमूद ने मुल्तान की ओर प्रस्थान किया। मुल्तान के शासक फतह दाऊद ने महमूद की सेना का बड़ी वीरता से सामना किया, किंतु परास्त हुआ। उसने महमूद को वार्षिक कर देने का वचन दिया तथा एक बड़ी धन-राशि उसको भेट-स्वरूप प्रदान की। महमूद राजा आनंदपाल के पुत्र सेवकपाल को भारतीय राज्य सौंप, गजनी चला गया।

सेवकपाल पर आक्रमण

महमूद ने पाँचवा आक्रमण राजा आनंदपाल के पुत्र सेवकपाल पर किया। उसने महमूद के चले जाने के उपरांत अपने आपको स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया था। सेवकपाल युद्ध में महमूद का सामना नहीं कर सका। वह परास्त हुआ और बंदी बना लिया गया। महमूद ने उससे दंड-स्वरूप तथा युद्ध-क्षति के रूप में बहुत सा धन वसूल किया।

आनंदपाल पर आक्रमण

1008 ई. में महमूद ने राजा आनंदपाल पर आक्रमण किया। उसने मुल्तान के शासक फतह दाऊद को महमूद के शासन से मुक्त होने में सहायता प्रदान की थी तथा उत्तरी भारत में राजाओं का मुसलमानों की सत्ता का अंत करने के अभिप्राय से संघ निर्मित किया था। महमूद राजा आनंदपाल के इस कार्य को सहन न कर सका। उसने उसकी राजधानी लाहौर पर आक्रमण किया। राजा आनंदपाल ने इस समय अन्य भारतीय नरेशों की सहायता प्राप्त की। उसकी दिल्ली, उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज आदि के राजाओं ने सहायता की। दोनों सेनाओं में बड़ा भीषण संग्राम हुआ, जिसके कारण महमूद को युद्ध बंद करने का विचार करना पड़ा। परंतु उसी समय राजा आनंदपाल का हाथी बिगड़ गया और क्षेत्र से भागने लगा। इसका भारतीय सेना पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। महमूद ने इस शुभ स्थिति से लाभ उठाया और अपनी सेना को तीव्रगति से आक्रमण करने का आदेश दिया। हिंदू सेना युद्ध-स्थल से भागने लगी। महमूद ने उसे बुरी तरह परास्त किया। इस युद्ध में बहुत से हिंदू सैनिक हताहत हुए और मुसलमानों को बहुत धन प्राप्त हुआ। इस विजय में महमूद तथा उनके सैनिकों का उत्साह बढ़ गया। उसने काँगड़ा प्रदेश की राजधानी नगरकोट पर आक्रमण किया। उसको समाचार मिला था कि नगरकोट में स्थित ज्वाला जी

के मंदिर में अतुल धन एकत्रित है। उसने इस धन को प्राप्त करने के अभिप्राय से आक्रमण किया। मुसलमान सेना ने काँगड़ा के दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया। जब हिंदुओं ने अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं देखा तो उन्होंने दुर्ग के फाटक खोल आत्मसमर्पण कर दिया। मुसलमानों ने दुर्ग में प्रवेश कर उस पर अधिकार किया। वहाँ से भी महमूद को अतुल धन प्राप्त हुआ जिसको उसने विदेशी राजदूतों, सरदारों एवं प्रजा के समक्ष प्रदर्शित किया।

तलावाड़ी का युद्ध

1010 ई. में महमूद ने भारत पर सातवाँ आक्रमण किया। इस बार वह दिल्ली पर आक्रमण करना चाहता था, किंतु मार्ग में ही उसको तलावाड़ी के निकट हिंदू सेना से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में भी वह विजयी हुआ। वहाँ से वह बहुत सा धन लेकर स्वदेश वापस चला गया।

मुल्तान पर आक्रमण

1011 ई. में महमूद ने आठवाँ आक्रमण मुल्तान पर किया। वहाँ के शासक अब्दुल फतह दाऊद ने अपने आपको स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया था। महमूद विजयी हुआ और सुल्तान पर उसका अधिकार हो गया।

थानेश्वर पर आक्रमण

1012 ई. में महमूद ने नौवाँ आक्रमण थानेश्वर पर किया। थानेश्वर के राजा के पास बहुत से हाथी थे। उसको उन पर बड़ा विश्वास था। वास्तव में महमूद ने हाथियों को प्राप्त करने के लिए ही वह आक्रमण किया था। हिंदू-सेना ने महमूद की सेना का वीरता से सामना किया, किंतु अंत में वहाँ के राजा को भागना पड़ा। महमूद विजयी हुआ और उसे बहुत से हाथी तथा अतुल धन प्राप्त हुआ। मुसलमान सैनिकों ने मंदिरों को खूब लूटा।

लाहौर पर आक्रमण

महमूद ने दसवाँ आक्रमण लाहौर पर किया। इस समय वहाँ राजा त्रिलोचनपाल शासन कर रहा था। त्रिलोचनपाल के पुत्र भीमपाल ने बड़ी वीरता से मुसलमानी सेना का सामना किया, किंतु महमूद विजयी हुआ। उसने समस्त पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया।

कश्मीर पर आक्रमण

1015 ई. में कश्मीर विजय के लिए लालायित होकर महमूद ने ग्यारहवाँ आक्रमण किया। उसके आक्रमण का उद्देश्य भीमपाल को बंदी करना था, जिसने कश्मीर में शरण ली थी। मौसम की खराबी के कारण इस आक्रमण में महमूद को सफलता प्राप्त नहीं हुई, उसे गजनी लौटना पड़ा।

मध्य भारत पर आक्रमण

बारहवाँ आक्रमण बरन (बुलंदशहर) पर किया। महमूद विजयी हुआ। उसने अतुल धन प्राप्त किया। इसके बाद उसने महावत पर आक्रमण किया। वहाँ से भी उसको बहुत सा धन प्राप्त हुआ और कुछ हाथी भी मिले। इसके बाद उसने मथुरा पर आक्रमण किया। वह हिंदुओं का पवित्र तीर्थ स्थान था। यहाँ महमूद का विशेष सामना नहीं हुआ। उसने नगर में प्रवेश कर मंदिर तथा नगर को खूब लूटा। उसके अधिकार में अतुल धन आया। उसके उपरांत उसने कन्नौज पर आक्रमण किया, जहाँ प्रतिहार वंश का राजा राज्यपाल शासन कर रहा था। इस समय कन्नौज उत्तरी भारत का केंद्र था। वहाँ हजारों संगमरमर के भवन धर्मात्मा के धर्म के समान दृढ़ बने हुए हैं तथा असंख्य मंदिर हैं। यहाँ से भी महमूद को बहुत सा धन तथा हाथी प्राप्त हुए। इसके बाद अन्य नगरों को लूटता हुआ वह स्वदेश चला गया।

कालिंजर पर आक्रमण

राजपूत राजा राज्यपाल के शत्रु हो गए थे, क्योंकि उन्होंने उसको कालिंजर के राजा के नेतृत्व में सिंहासन से उतार दिया। महमूद ने उसको दंड देने के अभिप्राय से 1019 ई. में तेरहवाँ आक्रमण कालिंजर पर किया। यहाँ का राजा गण्ड बड़ा वीर साहसी था, किंतु वह महमूद की सेना से भयभीत होकर रात्रि के समय दुर्ग छोड़कर भाग गया। अतः महमूद ने नगर को खूब लूटा और अतुल धन प्राप्त किया।

पंजाब पर आक्रमण

पंजाब के शासन में शिथिलता उत्पन्न हो गई थी। सुव्यवस्था की स्थापना के अभिप्राय से उसने इस बार पंजाब पर आक्रमण किया। सीमांत प्रदेश के निवासियों का दमन करता हुआ वह आगे बढ़ा। उसने पंजाब में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की।

ग्वालियर तथा कालिंजर पर आक्रमण

1022 ई. में उसने ग्वालियर तथा कालिंजर पर पंद्रहवाँ आक्रमण किया। वहाँ वह विजयी हुआ। वहाँ के राजाओं ने उसको बहुत सा धन तथा हाथी भेंट किए।

सोमनाथ पर आक्रमण

महमूद के अंतिम आक्रमणों में सोमनाथ का आक्रमण सबसे महत्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध आक्रमण था। यह उसका सोलहवाँ आक्रमण था, जो 1025 ई. में सौराष्ट्र के प्रसिद्ध मंदिर पर किया गया था। यह मंदिर सौराष्ट्र के समुद्र तट पर स्थित था, जिसमें एक विशाल शिव-लिंग स्थापित था। महमूद इस मंदिर के एकत्रित धन के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। अतः वह एक विशाल सेना लेकर सोमनाथ मंदिर के द्वार तक पहुँच गया। उसकी रक्षा के लिए अनेक राजपूत राजा तथा सैनिक एकत्रित थे। उन्होंने मुसलमानों की सेना का खूब डटकर वीरतापूर्वक सामना किया, किंतु विजय महमूद की हुई। उसने सोमनाथ की मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और उस स्थान पर एक मस्जिद बनवाई। ये टुकड़े उसने गजनी, मक्का और मदीने भिजवा दिए, जहाँ वे गलियों में तथा मस्जिद की सीढ़ियों में डलवा दिए गए, जिससे मुसलमानों के पैरों के नीचे रौंदे जा सकें। जिस समय महमूद सोमनाथ की मूर्ति गदा से तोड़ रहा था तो ब्राह्मणों ने उससे मूर्ति न तोड़ने की प्रार्थना की तथा उसके बदले में उसे अतुल धन देने की प्रार्थना की, किंतु महमूद ने उनकी प्रार्थना की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने कहा– "मैं मूर्ति बेचने वाले के नाम से नहीं, वरन तोड़ने वाले के नाम से विख्यात होना चाहता हूँ।"

खोखरों पर आक्रमण

महमूद का सत्रहवाँ आक्रमण खोखरों के विरुद्ध हुआ। उन्होंने महमूद को गजनी वापिस जाते समय बहुत तंग किया था। इनकी धृष्टता का दंड देने के लिए महमूद ने उन पर आक्रमण किया और उनका बुरी तरह दमन किया।

महमूद गजनवी की मृत्यु

30 अप्रैल, 1030 ई. के दिन उस महान विजेता की मृत्यु हुई। जिस समय उसकी मृत्यु हुई उस समय गजनी साम्राज्य बड़ा विशाल था। उसका राजकोष असंख्य धन राशि से पूर्ण था।

3.2.3.5. महमूद गजनवी के आक्रमणों का प्रभाव

महमूद के आक्रमणों का भारत पर कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने उत्तरी भारत के पश्चिमी प्रदेशों के राजाओं को युद्ध में परास्त किया, अनेक भव्य तथा समृद्धिशाली नगरों व मंदिरों को विध्वंस किया और समस्त प्रदेशों को आतंकित कर दिया। किंतु उसने पंजाब के अतिरिक्त किसी अन्य प्रदेश को अपने साम्राज्य का अंग नहीं बनाया और न उनकी उचित व्यवस्था की। डॉक्टर ईश्वरी प्रसाद का कथन

है,"धन के लोभ तथा लालच ने महमूद को महत्वपूर्ण लाभों की ओर से अंधा बना दिया था, जो भारतीय विजय द्वारा विजेता को प्राप्त होते। वह भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार नहीं कर सका, क्योंकि उसकी विध्वंसात्मक नीति ने हिंदुओं में इस्लाम के प्रति घृणा की भावना जागृत कर दी, जो भारत के हिंदुओं में पर्याप्त समय तक विद्यमान रही और इसी कारण दोनों धर्मों में सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका।"

पंजाब के उसके राज्य में सम्मिलित होने के अतिरिक्त उसके आक्रमणों का कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ। किंतु कुछ-न-कुछ दूरस्थ परिणाम अवश्य हुए, जिनके कारण भारत के इतिहास में कुछ विभिन्नता उत्पन्न हुई। अन्य स्थानों पर उसके आक्रमण का प्रभाव नष्ट हो गया। लगभग दो शताब्दी तक राजपूत उत्तरी भारत के स्वामी बने रहे। उन्होंने उसे एक आँधी के समान समझा जो आई और चली गई। उसके आक्रमण के अन्य प्रभाव निम्नलिखित हैं:–

(1) राजाओं की शक्ति को आघात– उसके आक्रमणों के कारण भारतीय नरेशों की सैनिक शक्ति को गहरा आघात पहुँचा।

(2) भारतीय सैन्य दुर्बलता का ज्ञान– भारतीयों की राजनीतिक तथा सैनिक दुर्बलता का ज्ञान विदेशियों को लग गया, जिन्होंने उसका पूर्ण रूप से लाभ उठाया।

(3) अतुल संपत्ति का विदेश जाना– उसके आक्रमण द्वारा भारत की अतुल संपत्ति विदेश चली गई, जिसके कारण भारत की आर्थिक स्थिति में विकार उत्पन्न हो गया। उसने हिंदुओं के उन मंदिरों को विशेष रूप से लूटा, जिनमें अतुल धन संचित था। महमूद ने इस संपत्ति का प्रयोग अपनी पश्चिमी विजय में किया।

(4) स्थापत्य-कला के नमूने का अंत– महमूद ने बहुत से मंदिरों तथा भव्य भवनों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, जिसके कारण भारतीय स्थापत्य-कला को बड़ी हानि पहुँची और कला के अनुपम नमूने नष्ट हो गए।

(5) पंजाब का भारत से संबंध विच्छेद– पंजाब को महमूद ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। इससे पंजाब का भारत से संबंधविच्छेद हो गया और वह अफगानिस्तान के निकट हो गया।

(6) अग्रदूत का कार्य– महमूद के आक्रमणों ने मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के लिए अग्रदूत का कार्य किया। यह महमूद ही था, जिसने बारहवीं शताब्दी में मुहम्मद गोरी की अधिक स्थायी विजय के लिए द्वार खोल दिया। कुछ विद्धानों की ऐसी धारणा है कि यदि मुहम्मद गोरी को महमूद गजनवी का निर्देशित मार्ग न मिला होता तो वह अपना कार्य संपन्न नहीं कर सकता था।

(7) आक्रमण के लिए नए मार्ग का खुलना– मुस्लिम आक्रमण के लिए महमूद गजनवी ने नया मार्ग खोल दिया और सिद्ध कर दिया कि उसके द्वारा खोला हुआ मार्ग अरबों के मार्ग की अपेक्षा अधिक सुगम है, इसी मार्ग द्वारा भारत की विजय संभव है। भारत पर अन्य सभी आक्रमण इसी मार्ग से हुए और आक्रमणकारियों को भी सफलता प्राप्त हुई।

(8) अधिकांश भारत का ज्ञान– महमूद ने भारत पर सत्रह आक्रमण किए जिनके कारण मुसलमानों को उत्तरी भारत का ज्ञान प्राप्त हो गया तथा भारत की दुर्बलताओं की भी जानकारी मिल गई, जिससे उन्होंने विशेष लाभ उठाया।

3.2.3.6. महमूद गजनवी लुटेरा : एक ऐतिहासिक विवाद

यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है कि महमूद एक लुटेरा था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि वह लुटेरा था, जिसका भारत पर आक्रमण करने का उद्देश्य भारत से धन लूटना था। वह भारत में न इस्लाम का प्रचार करना चाहता था और न अपने राज्य की स्थापना ही। उसने तो केवल भारत में मंदिरों को नष्ट-

भ्रष्ट किया और वहाँ से अतुल संपत्ति प्राप्त की जिसका उसने मध्य एशिया में अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयोग किया। उसने विजित प्रदेशों में किसी प्रकार की शासन-व्यवस्था की स्थापना नहीं की। वह आँधी के समान भारत में आया और आँधी की तरह चला गया। उसने केवल पंजाब पर अधिकार किया। जिससे वह उसे आक्रमण के आधार के रूप में प्रयोग कर सके। उक्त बातों के आधार पर ही प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ का कथन है कि वह एक मात्र लुटेरा था, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इस मत के विपरीत श्री वैद्य का कथन है कि वह लुटेरा नहीं था, वरन एक राजनीतिज्ञ था। उसने भारत की विजय धीरे-धीरे की और संपूर्ण भारत पर एक साथ विजय करने का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि वह जानता था कि इस प्रकार भारत को विजय करना कठिन है। वह दूरस्थ प्रदेशों से वार्षिक कर लेकर ही संतुष्ट हो जाता था। श्री वैद्य का तर्क उचित नहीं है। यह सत्य है कि उसने अपने मध्य एशिया के साम्राज्य में उचित व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। वास्तव में उसके भारत पर आक्रमण का उद्देष्य धन प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। अतः वह लुटेरा था और कुछ नहीं।

गजनी साम्राज्य का पतन

1030 ई. में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने के उपरांत महमूद की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका पुत्र मसूद अपने भाई मुहम्मद को परास्त कर गजनी के सिंहासन पर आसीन हुआ। वह अपने पिता का योग्य पुत्र था। उसके शासन-काल में उसका दरबार तथा उसकी शान मध्य एशिया के दरबारों में अद्वितीय थी। वह बड़ा वीर और साहसी युवक था। वह भी अपने पिता के समान युद्ध प्रिय था। किंतु उसके शासन काल में पंजाब का शासन शिथिल हो गया था। इसी समय मध्य एशिया में अन्य तुर्कों का दवाब बढ़ने लगा। इस वंश का अंतिम शासक बहरामशाह था, जिसकी 1052 ई. में मृत्यु हो गई। उसके शासनकाल में गजनी में तुर्कों का प्रभाव बढ़ गया और तुर्कों ने उसके उत्तराधिकारियों को गजनी छोड़ने पर मजबूर कर दिया और शासन पर अधिकार कर लिया।

3.2.4. मुहम्मद गोरी

गोर राज्य का उत्कर्ष

अफगानिस्तान में गजनी और हिरात के बीच पर्वतीय क्षेत्र में गोर एक छोटी सी जागीर थी। गोर निवासी हथियारों और युद्धीय उपकरणों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे और पड़ोसी देशें में उनका निर्यात करते थे। जब सन् 1020 ई. में गजनी के सुलतान मसूद ने गोर पर आक्रमण किया तब वहाँ का शासक अबुल हसन खनफ उसके पास ढालें और कवच भेंटस्वरूप लाया था। तत्पश्चात् यहाँ शंसबानी राजवंश का राज्य स्थापित हो गया। इसका संस्थापक शंसब तुर्क था जो जुहाफ़ का वंशज था। उसने खलीफा के हाथों इस्लाम स्वीकार किया था। खलीफा ने उसे एक ध्वज और एक 'प्रतिज्ञा पत्र' प्रदान किया था। इससे प्रतीत होता है कि शंसब वंश के पूर्व शासक और गोर के लोग बौद्ध महायान मत के अनुयायी थे, क्योंकि अफगानिस्तान में यह धर्म अभी भी प्रचलित था और तुर्कीस्तान, बामियान तथा काबुल बौद्ध धर्म के अत्यंत सक्रिय केंद्र थे। जब गजनी के सुलतान महमूद ने सन्1010 में गोर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, तब से वहाँ इस्लामी सभ्यता के सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभाव प्रारंभ हुए और गौरियों को इस्लाम की शिक्षा देने के लिए शिक्षक नियुक्त किए गए।

3.2.4.1. मुहम्मद गोरी का प्रारंभिक जीवन

गजनी के अंतिम शासक बहरामशाह ने अपनी पुत्री का विवाह गोर के तुर्क शासक कुतुबुद्दीन के साथ किया था। किंतु अपने दामाद कुतुबुद्दीन से मतभेद होने के कारण बहरामशाह ने उसका कत्ल करवा दिया। इससे गोर और गजनी के राजवंश में अधिक वैमनस्य और शत्रुता बढ़ गई। गोर के नए शासक सैफुद्दीन के बाद उसका भाई अलाउद्दीन हुसैन गोर राज्य का शासक बना। उसने अपने भाई सैफुद्दीन की पराजय और हत्या का बदला लेने के लिए गजनी पर आक्रमण किया। वह विजयी हुआ। उसने गजनी को खूब लूटा और उसे विध्वंस कर दिया। वह गोर का प्रथम शासक था, जिसने 'अस्सुल्तान अल मुअज्जम' (महान सुलतान) की पदवी धारण की। उसने सन् 1152 ई. में सल्जुकी के सुल्तान को वार्षिक कर (खिराज) देना बंद कर दिया तथा गजिस्तान, बामियान तथा समीपवर्ती प्रदेशों में अपनी राजसत्ता का विस्तार किया। उसने गजनवियों और सल्जुकों के पतन का लाभ उठाकर अपने राज्य का प्रसार किया।

अलाउद्दीन हुसैन के निधन के बाद उसका पुत्र सैफुद्दीन मुहम्मद उसका उत्तराधिकारी बना, पर एक झगड़ें में मारे जाने के कारण दो वर्ष की अल्प अवधि में ही उसका अंत हो गया। उसके बाद, 1163 ई. में उसका चचेरा भाई गयासुद्दीन गोर वंश के राजसिंहासन पर बैठा। उसका छोटा भाई शहाबुद्दीन तकीनाबाद का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इस समय गजनी गुज्ज तुर्कों के अधीन था। सुलतान गयासुद्दीन ने राज्यपाल शहाबुद्दीन को गजनी पर विजय प्राप्त करने के आदेश दिए। फलतः 1173-74 ई. में शहाबुद्दीन ने गजनी पर आक्रमण कर उस पर विजय प्राप्त की। इससे प्रसन्न होकर गयासुद्दीन ने गजनी राज्य शहाबुद्दीन को दे दिया। अब शहाबुद्दीन गजनी का शासक बन गया। शहाबुद्दीन ने जिसे मुहम्मद बिनसाम भी कहते हैं, खुरासान विजय करने के बाद 'मुईजुद्दीन' का खिताब धारण किया था। यही मुईजुद्दीन भारतीय इतिहास में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के नाम से प्रसिद्ध है। अपने भाई और गोर के शासक गयासुद्दीन की मृत्यु के बाद मुईजुद्दीन ने गोर को भी अपने अधिकार में कर लिया और उसने गोर और गजनी दोनों राज्यों को एक ही राज्य में सम्मिलित कर लिया। गोरी ने गजनी में अपनी शक्ति दृढ़ करके, उत्तरी भारत पर आक्रमण कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया, क्योंकि वह साम्राज्यवादी और महत्वाकांक्षी सुलतान था।

3.2.4.2. 12वीं सदी ई. में भारत की स्थिति

मुहम्मद गोरी ने महमूद गजनवी के आक्रमण के लगभग 150 वर्ष बाद भारत पर आक्रमण किए। इस लंबी अवधि में भारत के राजनीतिक मानचित्र में कुछ परिवर्तन हो गए थे। राजपूत शासकों ने भारत के विभिन्न भागों में अपनी सत्ता की स्थापना कर ली थी। भारत के पश्चिमी प्रदेशों पर गजनी के सुल्तानों का आधिपत्य था। सिंध पर सुमराओं का शासन था। इनके अतिरिक्त उत्तरी भारत में पाँच प्रसिद्ध राजपूत राज्य थे, जिनमें एकता का अभाव था। दिन प्रतिदिन उनमें संघर्ष होता रहता था, जिसके कारण उनकी सैनिक शक्ति का पतन हो रहा था। ये राज्य इस प्रकार थे–

(1) अजमेर तथा दिल्ली– अजमेर और दिल्ली के प्रदेश पर चौहान वंशीय राजपूतों का अधिकार था। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय इस समस्त प्रदेश पर पृथ्वीराज चौहान का आधिपत्य था, जो बड़ा वीर तथा प्रतापी राजा था। उसने महोबा के परमार राजा को युद्ध में पराजित किया था।

(2) कन्नौज तथा काशी– कन्नौज तथा काशी के मध्य क्षेत्रों पर गहदवाल वंशीय राजपूतों का अधिकार था। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय वह समस्त प्रदेश राजा जयचंद गहडवाल के आधिपत्य में था। वह बड़ा वीर तथा साहसी राजा था।

(3) गुजरात– गुजरात में बघेल राजपूत राज्य करते थे। इनकी सैनिक शक्ति बड़ी दृढ़ थी।

(4) बिहार– बिहार में पाल वंश के राजाओं का अधिकार था। इनकी सैनिक शक्ति भी उन्नत थी।
(5) बंगाल– बंगाल में सेन वंश का शासन था। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय बंगाल पर राजा लक्ष्मण सेन शासन कर रहा था। वह बड़ा वीर तथा प्रतापी शासक था।

उक्त समस्त राजाओं की सैनिक शक्ति दृढ़ थी, किंतु व्यक्तिगत गौरव के कारण उनमें एकता का अभाव था। पृथ्वीराज और जयचंद में पुरानी शत्रुता थी और वे एक दूसरे को अपमानित करने की खोज में रहते थे। पृथ्वीराज ने जयचंद की कन्या संयोगिता का अपहरण कर उसके अभिमान को ठेस पहुँचाई थी। अतः जयचंद सदा पृथ्वीराज से अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के अवसर की ताक में रहता था। जब भी उसे ऐसा अवसर प्राप्त हुआ तो उसने उसे हाथ से नहीं जाने दिया। इस प्रकार की पारस्परिक कलह के कारण समस्त देश में शासन व्यवस्था शिथिल पड़ गई थी। सामंत प्रथा के कारण जनता को विशेष कष्ट का अनुभव हुआ। राजाओं के उदासीन रहने के कारण उनकी राज-भक्ति क्षीण पड़ गई। राजाओं ने सीमांत प्रदेशों की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया और न ही विदेशी शत्रु की शक्ति को जानने का प्रयत्न किया। वास्तव में उस समय की राजनीतिक परिस्थिति बहुत ही शोचनीय थी। वह विदेशी आक्रमणकारियों के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। उन्होंने इसका लाभ उठाकर भारत में इस्लाम धर्म की पताका फहरा दी और राजपूतों के हाथ से भारत की राज्यश्री छीन ली।

3.2.4.3. मुहम्मद गोरी के भारत पर आक्रमण

प्रारंभिक विजय

मुहम्मद गोरी भारतीय राजनीति का अध्ययन ध्यानपूर्वक कर रहा था। अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के उपरांत उसने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर आक्रमण करने आरंभ किए। उसके प्रारंभिक आक्रमण इस प्रकार हैं:-

मुल्तान पर आक्रमण

सर्वप्रथम 1175 ई. में उसने मुल्तान पर आक्रमण कर वहाँ के इस्लामी शासक को युद्ध में परास्त किया और मुल्तान पर अधिकार किया और वहाँ का शासन अपने व्यक्तियों को सौंप दिया।

उच्छ पर आक्रमण

इसके उपरांत 1176 ई. में उसने उच्छ पर आक्रमण किया। ऐसा कहा जाता है कि मुहम्मद गोरी ने उच्छ की रानी को अपनी ओर मिला लिया, जिसने अपने पति के साथ विश्वासघात कर दुर्ग के द्वारा खुलवा दिए और अपने पति की हत्या करवा दी। आधुनिक इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं। उस समय शायद उस प्रदेश पर मुसलमानों का अधिकार था। उच्छ राज्य पर मुहम्मद गोरी का अधिकार स्थापित हो गया।

गुजरात पर आक्रमण

1178 ई. में मुहम्मद गोरी ने राजस्थान का मरूस्थल पार करके गुजरात पर आक्रमण किया। उसकी इच्छा थी कि गंगा-यमुना की अंतर्वेदी में घुसने के लिए दक्षिण-पश्चिम से मार्ग निकाला जाए। इस आक्रमण का अन्य कारण यह भी था कि गुजरात धन-धान्य से पूर्ण था। गुजरात के शासक मूलराज की सैनिक शक्ति दृढ़ थी। उसने मुहम्मद गोरी को आबू पर्वत के मैदान में बुरी तरह परास्त किया, जिससे मुहम्मद गोरी की योजनाएँ असफल हुई, किंतु इस पराजय से वह हतोत्साहित नहीं हुआ। भारतीय आक्रमणों में यह उसकी प्रथम पराजय थी।

पेशावर पर आक्रमण

अब मुहम्मद गोरी ने अपनी भारतीय विजय की योजना में परिवर्तन किया। उसने भारत विजय करने के लिए पंजाब का मार्ग अपनाया। उसने 1180 में पेशावर पर आक्रमण किया और वहाँ के गजनवी शासक को परास्त किया।

लाहौर पर आक्रमण

1181 ई. में उसने लाहौर पर आक्रमण किया और गजनवी वंश द्वारा स्थापित शासक खुसरोशाह को आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया, किंतु लाहौर पर अधिकार नहीं कर सका।

स्यालकोट पर आक्रमण

1185 ई. में उसने स्यालकोट पर अधिकार किया। 1186 ई. में उसने कूटनीति द्वारा लाहौर पर भी अधिकार स्थापित किया।

भारत विजय

अपनी प्रारंभिक विजयों द्वारा उसने भारत से गजनवी वंश की सत्ताको समूल नष्ट कर दिया और भारत के अन्य प्रदेशों की विजय के लिए अपने आपको तैयार कर लिया। उत्तरी भारत में पाँच राजपूत वंश राज्य कर रहे थे। ये बड़े वीर तथा साहसी थे। ये उन विदेशियों से युद्ध करने के लिए सदा तैयार रहते थे, जो उनके राज्य पर आक्रमण करने का साहस करते थे।

पृथ्वीराज से प्रथम युद्ध

1191 ई. में मुहम्मद गोरी ने सरहिंद पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उसने एक विशाल सेना लेकर लाहौर से कूच किया। भारत में दिल्ली और अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज के नेतृत्व में एक विशाल सेना संगठित थी। थानेश्वर में तराईन के मैदान में दोनों सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ। राजपूतों ने बड़ी वीरता तथा साहस का परिचय दिया। इस बार मुसलमानों को भीषण शत्रु का सामना करना पड़ा। इस संबंध में लेनपूल का कथन है कि राजपूतों में मुसलमानों को विश्व की अद्वितीय सैनिक शक्ति एक ऐसी वीर जाति, जो मृत्युपर्यंत युद्ध करना जानती थी, युद्ध के लिए मिली। राजपूतों के सामने मुसलमानी घुड़स्वार सेना सफल नहीं हो सकी। स्वयं सुल्तान मुहम्मद को अपनी जीवनरक्षा करना कठिन हो गया। एक खलजी सरदार द्वारा उसके जीवन की रक्षा की गई। मुसलमानी सेना में भगदड़ मच गई और राजपूतों की विजय हुई। इस्लाम की सेना को इससे पूर्व हिंदुओं द्वारा इतनी बुरी तरह पराजित तथा अपमानित नहीं होना पड़ा था।

मुहम्मद गोरी पराजित होकर गजनी वापस चला गया, किंतु वह अपनी पराजय तथा अपमान को नहीं भूला। वह भारत पर पुनः आक्रमण करने की तैयारी में लग गया। वह उन व्यक्तियों में से नहीं था जो पराजय द्वारा अपने लक्ष्य का परित्याग कर देते हैं।

पृथ्वीराज से द्वितीय युद्ध

1192 ई. में मुहम्मद गोरी ने एक विशाल सेना के साथ भारत पर आक्रमण किया। राजपूत भी पृथ्वीराज चौहान के नेतृत्व में संगठित हो गए। मुहम्मद ने अपनी सेना को पाँच भागों में विभक्त किया और अपनी सेना को योजनानुसार युद्ध के लिए खड़ा किया। तराईन के मैदान में पुनः दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ, किंतु इस बार विजयश्री मुसलमानों के हाथ लगी। इस संबंध में फरिश्ता का कथन है कि "हिंदुओं की विशाल सेना का शीघ्र पतन हो गया।" पृथ्वीराज चौहान युद्ध भूमि से भागा, किंतु बंदी बना लिया गया और उसका वध कर दिया गया। चंदबरदाई के अनुसार पृथ्वीराज बंदी बनाकर गजनी ले जाया गया जहाँ उसको अंधा कर दिया गया। उसने शब्द-भेदी बाण द्वारा मुहम्मद का वध किया और बाद

में आत्महत्या कर ली। इतिहासकार कर्नल टाड चंदबरदाई के कथन पर विश्वास नहीं करते। सत्य कुछ भी हो किंतु इतना निश्चित है कि इस संघर्ष में राजपूत सेना परास्त हुई एवं भारत की राज्यश्री मुसलमानों के हाथों में चली गई।

युद्ध के परिणाम

विभिन्न विद्वानों के अनुसार तराइन युद्ध के परिणाम इस प्रकार हैं:-

डॉ. विन्सेंट स्मिथ के अनुसार, "सन् 1192 ई. का तराइन का युद्ध एक निर्णायक युद्ध था जिसने भारत में मुसलमानों के आक्रमण की सफलता सुनिश्चित कर दी। इसके उपरांत मुसलमानों ने समस्त भारत को अपने अधिकार में कर लिया।" डॉ. ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "यह राजपूत शक्ति पर गहरा आघात था। इसके द्वारा भारतीय समाज के समस्त अंगों का नैतिक पतन होने लगा।" डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने भी इन्हीं विचारों को व्यक्त किया है, "इस युद्ध में विजयी होने से मुहम्मद गोरी को भारत के अन्य भागों को अपने अधिकार में करने में बड़ी सहायता मिली"।

इस प्रकार मुहम्मद गोरी ने भारत की भूमि पर मुसलमानी राज्य की स्थापना की। उसने अजमेर को पृथ्वीराज के पुत्र के अधिकार में इस शर्त के साथ सौंप दिया कि वह प्रतिवर्ष उसको कर देगा। कालांतर में कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में दिल्ली के समीप इंद्रप्रस्थ में एक सेना छोड़ गया। बाद में कुतुबुद्दीन ने मेरठ, कोल और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् मुहम्मद गोरी वापस गजनी चला गया। उसके वापस लौटने पर भारत में कुछ विद्रोह हुए, जिनका उसके प्रतिनिधि तथा सेनापति कुतुबुद्दीन ने बड़ी कठोरता से दमन किया। इसके बाद से ही दिल्ली, भारत में मुसलमानी राज्य की राजधानी बन गई।

3.2.4.4. मुहम्मद गोरी की अन्य विजय

उपरोक्त राज्यों से मुहम्मद की विजय लालसा का अंत नहीं हुआ। जब कुतुबुद्दीन राजपूतों के विद्रोह का दमन करने में व्यस्त था तो मुहम्मद अपनी विशाल सेना लेकर भारत आया। इस बार उसका उद्देश्य कन्नौज और काशी को अपने अधीन करना था। जयचंद को अकेले ही मुसलमानी सेना का सामना करना पड़ा। यमुना नदी के तट पर स्थित चंद्रवार नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में बड़ा घमासान युद्ध हुआ। मुहम्मद की सैनिक स्थिति डावांडोल थी, किंतु इस समय राजा जयचंद की आँख में तीर लगा, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। इससे राजपूतों का साहस टूट गया और उनकी सेना में भगदड़ मच गई। मुहम्मद ने परिस्थिति का लाभ उठाया और हजारों राजपूत सैनिकों का वध कर डाला। इस प्रकार इस युद्ध में केवल भाग्य के कारण मुहम्मद को विजयश्री प्राप्त हुई। युद्ध में विजयी होने के कारण भारत का बहुत बड़ा भाग उसके अधिकार में आ गया। उसने तुरंत बनारस पर आक्रमण किया और उसको भी अपने अधिकार में किया। मुहम्मद को वहाँ से अतुल धन तथा बहुत से हाथी प्राप्त हुए। उसने बहुत से मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करवाया। मुहम्मद इस विजय के उपरांत पुनः गजनी लौट गया।

मुहम्मद के गजनी चले जाने के उपरांत उसके कार्य को उसके प्रतिनिधि एवं सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने पूरा किया। कोल में विद्रोह हुआ जिसका शीघ्र दमन कर दिया गया। इसके उपरांत अजमेर में विद्रोह हुआ। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने अजमेर पर अधिकार कर दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए सेना का संगठन किया, किंतु शीघ्र ही कुतुबुद्दीन ने उस ओर प्रस्थान किया और राजपूती सेना को जो दिल्ली की ओर बढ़ रही थी, मार्ग में ही बुरी तरह परास्त किया। इसके उपरांत उसने अजमेर पर आक्रमण किया। हरिराज ने अपने को चिता में भस्म कर दिया और इस प्रकार अजमेर पर पुनः मुसलमानों का

अधिकार हो गया। कुतुबुद्दीन ने अजमेर को एक तुर्क सूबेदार को सौंप दिया और पृथ्वीराज के पुत्र को रणथम्भौर का प्रदेश दे दिया।

अन्य विजय

मुहम्मद गोरी ने 1195 ई. में पुनः बियाना तथा ग्वालियर के प्रदेशों को अपने अधिकार में करने के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण किया। (1) बयाना पर अधिकार– बयाना पर भट्टी राजपूतों का अधिकार था। यहाँ के राजा कुमारपाल ने अपने आपको दुर्ग में बंद कर लिया, किंतु बाद में उसे बाध्य होकर मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। (2) ग्वालियर पर अधिकार– इसके बाद मुहम्मद गोरी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। अभी तक ग्वालियर का दुर्ग अभेद्य समझा जाता था। वहाँ के शासक से वार्षिक कर लेना स्वीकार कर गोरी ने उससे संधि की, किंतु कुछ समय उपरांत मुसलमानों ने उस पर अधिकार कर लिया। (3) मेंड़ों का अधिकार– अभी तक राजपूतों ने मुहम्मद की अधीनता पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं की थी। अजमेर के समीप के प्रदेश में निवास करने वाले मेंड़ों ने अन्य राजपूतों की सहायता से विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उन्होंने अन्हिलवाड़ा के राजा को भी अपनी सहायता के लिए आमंत्रित किया। मेंडों ने अजमेर पर आक्रमण किया, किंतु वे सफल नहीं हो सके। इसी समय गजनी से कुछ सहायता आई, जिसके कारण राजपूतों को पीछे हटना पड़ा।

(4) अन्हिलवाड़ा की लूटमार– अन्हिलवाड़ा से प्रतिशोध लेने के अभिप्राय से कुतुबुद्दीन ने उस पर आक्रमण किया। राजपूतों ने बड़ी वीरता से सामना किया, किंतु वे परास्त हुए। कुतुबुद्दीन अन्हिलवाड़ा की लूटमार कर वापस चला गया। उस समय उसमें उस पर अधिकार करने की शक्ति नहीं थी। कुछ समय तक कुतुबुद्दीन ने मुसलमानी साम्राज्य को दृढ़ किया। (5) बुंदेलखंड पर अधिकार– 1202 ई. में उसने बुंदेलखंड के प्रदेश पर आक्रमण किया। उसने कालिंजर के दुर्ग का घेरा डाला, जिसमें उस समय वहाँ का राजा परमाल देव निवास कर रहा था। यह दुर्ग बहुत दृढ़ था और उसकी गणना भारत के प्रसिद्ध दुर्गों में की जाती थी। मुसलमानों ने दुर्ग में पानी पहुँचने के मार्ग पर अधिकार कर दुर्ग में पानी का पहुँचना बंद कर दिया। इससे विवश होकर राजपूतों ने हथियार डाल दिए। दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। (6) बिहार की विजय– जिस समय कुतुबुद्दीन उक्त विजयों में व्यस्त था उसी समय मुहम्मद गोरी का एक अन्य दास मुहम्मद-बिन-बख्तियार खलजी पूर्वी प्रदेशों की विजयों में संलग्न था। उसको गंगा और सोन नदी के मध्य में एक जागीर प्रदान की गई थी। वह बड़ा कुरूप और बेडोल था। उसने बहुत से खलजियों को अपनी सेना में भर्ती किया और बिहार के प्रदेश पर आक्रमण आरंभ किए। अपनी शक्ति दृढ़ करने के उपरांत उसने बिहार की राजधानी उदंतिपुर पर अधिकार कर वहाँ के विशाल भवनों को नष्ट कर डाला। उसने बहुत से बौद्ध भिक्षुओं का वध कराया तथा नालंदा विश्वविद्यालय और उसके पुस्तकालय को भस्म करवाया। इसके उपरांत उसने बिहार के अन्य प्रदेशों पर अधिकार किया। इस प्रकार समस्त बिहार उसके अधिकार में आ गया। (7) बंगाल की विजय– बिहार की विजय ने मुहम्मद बिन-बख्तियार खलजी के उत्साह तथा साहस में वृद्धि की। उसने बंगाल विजय की योजना बनाई। इस समय वहाँ लक्ष्मणसेन शासन कर रहा था, जिसने अपने राज्य की सुरक्षा की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। 1204 ई. में मुहम्मद-बिन-बख्तियार खलजी ने बंगाल पर आक्रमण किया। वह दुर्ग में प्रवेश करने में सफल हुआ। उस समय राजा लक्ष्मण सेन दोपहर का भोजन करने के लिए बैठा ही था। जब उसने यह समाचार सुना तो वह पिछले द्वार से भाग गया और 1206 ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

उक्त विजय के बाद मुसलमानों के अधिकार में उत्तरी भारत का अधिकांश भाग आ गया।

मुहम्मद गोरी की मृत्यु

मध्य एशिया की राजनीति के कारण मुहम्मद गोरी अपनी विजय के उपरांत गजनी वापस चला गया। अपने भाई ग्यासुद्दीन की मृत्यु होने पर समस्त कार्य का भार उसके ऊपर आ गया था। यद्यपि उसका राज्य उसके अपने राज्य में सम्मिलित नहीं किया था। आरंभ में अपने प्रतिद्ंवदी ख्वारिज्म के शाह के विरुद्ध उसको कुछ सफलता प्राप्त हुई, किंतु बाद में वह बुरी तरह परास्त हुआ। इस पराजय का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जनता में विद्रोह की भावना तथा सरदारों में स्वतंत्रता प्राप्त करने की इच्छा का उदय हुआ। पंजाब के विद्रोहियों का दमन करने के लिए उसने स्वयं प्रस्थान किया। जबवह विद्रोह का अंत कर गजनी वापस जा रहा था तो 15 मार्च, 1206 ई. को उसका वध कर दिया गया।

3.2.4.5. मुहम्मद गोरी का चरित्र

इतिहासकारों ने मुहम्मद गोरी की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। प्रसिद्ध इतिहासकार मिन्हाज उस सिराज ने अपनी पुस्तक 'तबकात-ए-नासिरी' में लिखा है कि "वह बहुत ही शरीफ, धार्मिक, विश्वसनीय, न्यायप्रिय एवं जनप्रिय शासक था।" उसको अपने परिवार के सदस्यों से विशेष प्रेम था। उसने सदा अपने भाई ग्यासुद्दीन की अधीनता में कार्य किया और किसी भी समय उसके विरुद्ध आचरण करने के विचार उसके मस्तिष्क में नहीं आए। वह अंत तक उसका भक्त रहा। यद्यपि उसका बल उससे कहीं अधिक था और उसने बहुत-सी विजयों को प्राप्त की थी। सर बूल्जे हेग ने उसकी इस कार्य के लिए बड़ी प्रशंसा की है। वह मनुष्य के नाते एक उच्च कोटि का व्यक्ति था। उसकी आदत तथा उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। वह दृढ़ प्रतिज्ञ था। वह जिस बात का संकल्प कर लिया करता था उसको वह सदैव पूरा करने की चिंता में संलग्न रहता था। प्रथम तराइन के युद्ध में परास्त होने पर वह सदा इसी चिंता में लगा रहता था कि पराजय तथा अपमान के कलंक का किस प्रकार अंत किया जाए। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि"वह आराम से सोता जागता नहीं था, वरन शोक एवं चिंता में निमग्न रहता था।' वह बड़ा उत्साही तथा साहसी था। वह भीषण से भीषण परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर भी नहीं घबराता था। उसको मानव चरित्र का अच्छा आकलन था। इसी कारण उसके लोगों ने उसको कभी धोखा नहीं दिया और सदैव उसके आज्ञापालक सेवक की तरह कार्य करते रहे। वह कुशल राजनीतिज्ञ था। वह स्थिति का वास्तविक ज्ञान सरलतापूर्वक कर सकता था। उसने भारत की राजनीतिक स्थिति का खूब लाभ उठाया और अपने उद्देश्य में सफल हुआ। कहीं-कहीं युद्धों में उसने कूटनीति से भी लाभ उठाया। वह एक व्यवहारिक व्यक्ति था। वह न्यायप्रिय शासक था तथा प्रजा के हित का ध्यान रखता था। वह साहित्य तथा कला का प्रेमी था। उसने विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय दिया। वह कट्टर मुसलमान था, किंतु उसने हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को इतनी ठेस नहीं पहुँचाई, जितनी महमूद ने। वह एक योग्य सेनानायक या सैन्य संचालक नहीं था। अन्हिलवाड़ा तथा तराइन के युद्ध में वह बुरी तरह परास्त हुआ। ख्वारिज्म के शाह ने भी उसको परास्त किया। वह पृथ्वीराज तथा जयचंद से भी कम योग्यता रखता था। वास्तव में, जैसा डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने कहा है कि "यह सत्य है कि उसमें विजय के कारण परिस्थिति का उचित ज्ञान और उसका लाभ उठाने तथा अपने उद्देश्य व लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृढ़ता थी। वह भारत में मुसलमानी साम्राज्य का संस्थापक था। इस दृष्टि से वह महमूद से उच्च था।'

3.2.5. सारांश

महमूद गजनवी

महमूद गजनवी गजनी का शासक और कट्टर मुसलमान था। उसका जन्म 1 नवंबर, 971 ई. को हुआ। 998 ई. में वह गजनी के सिंहासन पर बैठा। उसने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किए। आक्रमण के समय भारत की स्थिति– भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। भारतीय शासकों में संगठित होकर शत्रु का सामना करने की क्षमता का उदय नहीं हुआ था। उस समय भारत में ये राज्य थे– (1) पंजाब का हिंदूशाही राज्य, (2) कश्मीर का राज्य, (3) कन्नौज राज्य, (4) बंगाल राज्य, (5) गुजरात राज्य, (6) चोल राज्य, (7) चालुक्यों का राज्य आदि। सामाजिक स्थिति– अराजकता और अव्यवस्था का प्रसार होने के कारण भारतीयों का सामाजिक स्तर बहुत नीचा हो गया था। समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव पूर्णरूप से था। लोगों में आध्यात्मिक उन्नति का चाव नहीं था। वाममार्गियों का असीम प्रभाव था। मठों, विहारों और मंदिरों को भोग-विलास का साधन समझा जाने लगा था। देव-दासियों को भोग की वस्तु माना जाता था। आर्थिक स्थिति– भारत में धन-धान्य की बहुलता और समृद्धि का प्रसार था। राजाओं और अमीरों का जीवन भ्रष्ट हो गया था। मंदिरों में अटूट धन भरा था। व्यापार भी उन्नत था। भारत अपनी समृद्धि के कारण सोने की चिड़िया कहलाता था।

महमूद गजनवी के आक्रमण के उद्देश्य थे :- (1) इस्लाम धर्म का प्रचार, (2) अटूट संपत्ति प्राप्त करना।

महमूद के 17 आक्रमण :- (1) पंजाब पर आक्रमण, (2) सीमांत नगरों पर आक्रमण, (3) भेरा पर आक्रमण, (4) मुल्तान विजय, (5) सेवक पाल पर आक्रमण (6) आनंदपाल पर आक्रमण, (7) तलावड़ी का युद्ध, (8) मुल्तान पर दूसरा आक्रमण, (9) थानेश्वर पर आक्रमण, (10) लाहौर पर आक्रमण, (11) कश्मीर पर आक्रमण, (12) मध्य भारत पर आक्रमण, (13) कालिंजर पर आक्रमण, (14) पंजाब पर आक्रमण, (15) ग्वालियर और कालिंजर पर आक्रमण, (16) सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण, (17) खोखरों पर आक्रमण।

महमूद की मृत्यु :- 30 अप्रैल 1030 ई.।

आक्रमणों का प्रभाव :- भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने आक्रमण तो विभिन्न नगरों पर किए, परंतु पंजाब के अतिरिक्त अन्य किसी प्रांत को अपने राज्य में नहीं मिलाया। उसकी विध्वंसात्मक नीति के कारण हिंदू जाति इस्लाम और मुसलमानों से घृणा करने लगी, जिससे दोनों धर्मों के अनुयायियों में मेल-जोल नहीं बढ़ाया जा सका। अन्य प्रभाव निम्नलिखित प्रकार हैं - (1) भारतीय राजाओं की शक्ति को आघात, (2) भारतीय सैन्य दुर्बलता का ज्ञान, (3) भारत की अतुल संपत्ति का विदेश जाना, (4) स्थापत्य कला के आदर्श नमूनों का नाश, (5) पंजाब की भारत से पृथकता, (6) मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के लिए पथप्रदर्शन, (7) मुसलमानों को भारत की जानकारी।

महमूद का चरित्र

वह कुरूप था, परंतु शारीरिक गठन आकर्षक था। उत्साह और सैन्य संचालन की कुशलता से भरपूर था। विश्व के महान सेनापतियों में तुलना की जा सकती है। वह स्वाभाविक नेता, दूरदर्शी और संकल्प का दृढ़ व्यक्ति था। इतिहास में स्थान - स्वयं अशिक्षित होते हुए भी विद्वानों का बड़ा आदर करता था। स्त्रियों के साथ इसका अच्छा व्यवहार था। उसका न्याय बड़ा कठोर था। अन्याय और व्यभिचार से उसे घृणा थी। वह बड़ा धर्मांध और कट्टर व्यक्ति था। परंतु शासक की दृष्टि से वह शून्य था। इतिहास में अपने कार्यों के आधार पर उसे उच्च स्थान प्राप्त है। मुसलमान उसे गाजी मानते थे। हिंदुओं की दृष्टि में वह आक्रमणकारी, लुटेरा और हत्यारा था।

मुहम्मद गोरी

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत के विभिन्न राज्य– (1) अजमेर तथा दिल्ली, (2) कन्नौज तथा काशी, (3) गुजरात, (4) बिहार, (5) बंगाल। सभी राजाओं की सैनिक शक्ति सुदृढ़ थी, परंतु उनमें एकता न होने के कारण वे शत्रु का सामना करने में असमर्थ रहे और पराजित हुए।

मुहम्मद गोरी की विजययात्रा :- (1) पृथ्वीराज से प्रथम युद्ध 1191 ई. में तराइन के मैदान में हुआ, जिसमें मुहम्मद गोरी को पराजित होकर भागना पड़ा। (2) तराइन का दूसरा युद्ध 1192 ई. में पृथ्वीराज की पराजय और दिल्ली अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार। (3) कन्नौज पर आक्रमण- मुहम्मद गोरी का जयचंद को पराजित करके कन्नौज पर अधिकार करना। इसके बाद गोरी का वापिस लौट जाना।

अन्य विजय :- (1) बयाना पर अधिकार, (2) ग्वालियर पर विजय, (3) मेड़ राजपूतों के विद्रोह का दमन, (4) अन्हिलवाड़ा की लूट, (5) बुंदेलखंड विजय, (6) बिहार पर अधिकार, (7) बंगाल विजय। मुहम्मद गोरी की मृत्यु :- 15 मार्च, 1206 ई. को गजनी के मार्ग में उसका वध कर दिया गया।

मुहम्मद गोरी का चरित्र

वह बड़ा ही सज्जन, धार्मिक विश्वसनीय, न्यायप्रिय और जनप्रिय शासक था। परिवार के सदस्यों से उसे अधिक स्नेह था। वह उत्तम स्वभाव वाला बहुत अच्छा व्यक्ति था।

3.2.6. बोध प्रश्न

3.2.6.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. महमूद गजनवी के प्रारंभिक जीवन पर प्रकाश डालिए।
2. महमूद गजनवी की प्रारंभिक विजयों का परिचय दीजिए।
3. 11वीं सदी में भारत की राजनीतिक स्थिति के विषय में संक्षेप में लिखिए।
4. 11वीं सदी में भारत की सामाजिक स्थिति के विषय में संक्षेप में लिखिए।
5. 11वीं सदी में भारत की धार्मिक स्थिति के विषय में संक्षेप में लिखिए।
6. 11वीं सदी में भारत की आर्थिक स्थिति के विषय में संक्षेप में लिखिए।
7. महमूद गजनवी के आक्रमणों के क्या उद्देश्य थे?
8. महमूद गजनवी के सोमनाथ पर आक्रमण पर टिप्पणी लिखिए।
9. महमूद गजनवी के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
10. क्या महमूद लुटेरा था? अपना मत प्रस्तुत कीजिए।
11. मुहम्मद गोरी का परिचय दीजिए।
12. मुहम्मद गोरी के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
13. पृथ्वीराज चौहान का परिचय दीजिए।
14. जयचंद गहडवाल के विषय में आप क्या जानते हैं?
15. मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

3.2.6.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महमूद गजनवी का परिचय देते हुए भारत पर उसके आक्रमणों के उद्देश्य बताइए।
2. महमूद गजनवी की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
3. महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
4. महमूद गजनवी के भारत आक्रमण पर एक निबंध लिखिए।

5. महमूद गजनवी के भारत आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? विस्तार से समझाइए।
6. 12वीं सदी में भारत की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
7. मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का वर्णन कीजिए।
8. तराइन युद्ध की विस्तृत विवेचना कीजिए।
9. मुहम्मद गोरी की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
10. मुहम्मद गोरी के भारत आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? विस्तार से समझाइए।

3.2.7. संदर्भ ग्रंथ

1. मजूमदार तथा पुसलकर : दि डेल्ही सल्तनत, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।

खंड-3 : उत्तर भारत में मुसलमानों का आगमन
इकाई–3 : राजपूतों की पराजय के कारण

इकाई की रूपरेखा

3.3.1. उद्देश्य
3.3.2. प्रस्तावना
3.3.3. राजपूतों की पराजय के कारण
3.3.3.1. राजनीतिक कारण
3.3.3.2. सामाजिक कारण
3.3.3.3. सैनिक कारण
3.3.3.4. आर्थिक कारण
3.3.3.5. धार्मिक कारण
3.3.4. मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम और प्रभाव
3.3.4.1. भारतीय राजसत्ता और शक्ति का अंत
3.3.4.2. मुस्लिम राजसत्ता की स्थापना
3.3.4.3. खलीफा से मान्य धर्म सापेक्ष राजसत्ता
3.3.4.4. केंद्रीकृत साम्राज्यवाद का प्रारंभ
3.3.4.5. नागरिक जीवन और शहरीकरण का नवीनीकरण
3.3.4.6. विदेशी व्यापार
3.3.4.7. सैन्य परिवर्तन
3.3.4.8. नवीन धर्म और समाज का प्रारंभ
3.3.4.9. सांस्कृतिक प्रभाव
3.3.5. सारांश
3.3.6. बोध प्रश्न
3.3.6.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
3.3.6.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.3.7. संदर्भ ग्रंथ

3.3.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य मध्यकाल में भारत पर हुए तुर्क आक्रमणों में राजपूतों की पराजय के कारणों पर प्रकाश डालना है। तुर्क आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी एवं मुहम्मद गोरी उल्लेखनीय हैं। तुर्कों द्वारा भारत पर किस योजना एवं पद्धति से आक्रमण किए गए एवं राजपूतों पर विजय प्राप्त की गई? राजपूतों की रणनीति में क्या-क्या कमियाँ थीं? किस प्रकार आक्रमणकारियों ने राजपूतों की सेना में व्याप्त कमियों का लाभ उठाया? तुर्क आक्रमणों के क्या परिणाम हुए एवं इनका भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? इन सभी तथ्यों की विस्तृत विवेचना करना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

3.3.2. प्रस्तावना

भारत में अरबों के प्रवेश के साथ ही इस्लाम का भारत में उदय होता है। तत्पश्चात् तुर्कों के आक्रमणों से भारत में सत्ता परिवर्तन होता है और मुस्लिम सुल्तानों का शासन प्रारंभ हो जाता है। तुर्क आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी एवं मुहम्मद गोरी उल्लेखनीय हैं। जिस प्राचीन भारत से विदेशी आक्रमणकारी पराजित होकर रणक्षेत्र से पीछे लौट गए, उसी मध्यकालीन भारत में 11वीं एवं 12वीं सदी में तथा उसके बाद विदेशी आक्रमणकारी 'तुर्क' विजेता हो गए और अपना राज्य स्थापित कर दीर्घकाल तक भारत में शासन करते रहे। देश की राजनीतिक स्वतंत्रता लुप्त हो गई। मुस्लिम आक्रमणों में राजपूतों की पराजय हुई एवं भारत पर मुस्लिम सत्ता का उदय हो गया। राजपूतों की पराजय के अनेक कारण थे। मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप एवं मुस्लिमों के भारत में पदार्पण के परिणामस्वरूप भारत के सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन समस्त क्षेत्रों में दो भिन्न विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने भारत को दो विरोधी विचारधाराओं में विभक्त किया। इससे भारतीय एकता को बड़ा आघात पहुँचा। प्रस्तुत इकाई में राजपूत-तुर्क संघर्ष में राजपूतों की पराजय के कारणों पर प्रकाश डाला जाएगा।

3.3.3. राजपूतों की पराजय के कारण

प्राचीनकाल में भारतीय नरेशों और उनकी सेना ने विदेशी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक दृढ़ता से सामना किया और उन्हें पराजित कर खदेड़ दिया। चंद्रगुप्तमौर्य ने सेल्यूकस को, पुष्यमित्र शुंग ने मिनेंडर को तथा गुप्त सम्राटों ने हूणों को परास्त कर खदेड़ दिया। मध्यकाल में इस्लाम के अनुयायियों के निरंतर शृंखलाबद्ध आक्रमण हुए। इन आक्रमणकारियों का राजपूतों ने युद्धों में सामना किया, पर वे इन विदेशियों को स्थायी रूप से रोक न सके। उनके सामने अनेक राजपूत नरेश नत-मस्तक हुए। जिस प्राचीन भारत से विदेशी आक्रमणकारी पराजित होकर रणक्षेत्र से पीछे लौट गए, उसी मध्यकालीन भारत में 11वीं एवं 12वीं सदी में तथा उसके बाद विदेशी आक्रमणकारी 'तुर्क' विजेता हो गए और अपना राज्य स्थापित कर दीर्घकाल तक भारत में शासन करते रहे। देश की राजनीतिक स्वतंत्रता लुप्त हो गई। यद्यपि तुर्कों की इस विजय का कारण भारत की तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक दशा थी, परंतु राजपूत राजवंश भी इस विफलता के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। यह निर्विवाद है कि तुर्कों के आक्रमणों के समय भारत अनेक दृष्टि से पतनोन्मुख हो चुका था और विदेशियों ने इसका लाभ उठाकर यहाँ अपना राज्य स्थापित किया, परंतु इसके लिए तत्कालीन सत्तारूढ़ राजपूतों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। राजपूतों की पराजय एवं मुस्लिमों की सफलता के कारण निम्नलिखित हैं :–

3.3.3.1. राजनीतिक कारण

राजपूतों की पराजय या मुसलमानों की विजय के राजनीतिक कारण निम्नलिखित हैं :–

(1) राजनीतिक विशृंखलन

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व समस्त उत्तरी भारत राजनीतिक विशृंखलन की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। हर्ष के देहावसान के पश्चात् उत्तरी भारत अनेकानेक छोटे-छोटे राजपूत राज्यों में विभक्त हो गया था। उनमें विघटन की प्रवृत्ति थी, संगठन की नहीं। अनेक बार राजपूत राजाओं ने अपने प्रतिद्वंद्वी का विनाश करने के लिए विदेशियों को आमंत्रित किया, उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध सहायता और

सहयोग दिया एवं समय आने पर गुप्त भेद भी प्रकट कर दिया। मुसलमानों ने इस राजनैतिक स्थिति का लाभ उठाकर आक्रमण किए और एक-एक करके राजपूत नरेशों को परास्त कर दिया।

(2) दृढ़ केंद्रीय सत्ता और राष्ट्रीयता का अभाव

राजपूतों में राष्ट्रीयता की भावना का सृजन नहीं हुआ था। राजपूत नरेश और सामंत अपने राज्य और वंश या कुल के लिए अधिक स्वामिभक्त थे। उसके लिए वे अपना सर्वस्व बलिदान कर देते थे। अपने राज्य या वंश के राज्य पर हुए आक्रमणों का सामना करने को वे कटिबद्ध थे, परंतु भारत के अन्य भागों पर होने वाले विदेशी आक्रमणों के प्रति वे उदासीन और तटस्थ रहते थे। उन्होंने कभी भी पूर्ण रूप से सम्मिलित और संगठित होकर आक्रमणकारियों का सामना नहीं किया। राष्ट्रीय भावना का अभाव राजपूत सैनिकों में ही नहीं था, अपितु जनता में भी था। साधारण लोग राजा के प्रति ही अपना कर्तव्य समझते थे और देश के अन्य प्रदेशों व राज्यों की घटनाओं के प्रति उदासीन और अनभिज्ञ रहते थे। देश में राजनीतिक एकता और दृढ़ केंद्रीय सत्ता का भी अभाव था। देश में कोई ऐसी केंद्रीय शक्ति नहीं थी, जो समस्त राजपूतों को संगठित कर आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकती।

(3) सामंतशाही

राजपूतों में सामंत प्रथा प्रचलित होने से प्रशासन और सैन्य संगठन में सामंतों का ही बाहुल्य होता था। वे प्रशासन और सेना में उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। राज्य की शक्ति और उसकी रक्षा इन सामंतों की स्वामिभक्ति पर आश्रित थी। राज्य की आंतरिक शांति, बाह्य भय और आतंक पर निर्भर रहती थी। जब राज्य पर किसी बाहरी शत्रु के आक्रमण का भय नहीं रहता था, तो ये सामंत अस्थिर हो जाते थे और उनके तथा राजवंशों और राजपूतों के विभिन्न झगड़े प्रबल हो जाते थे। इसके अतिरिक्त राजा के दुर्बल होने पर या उसके देहावसान होने पर बड़े-बड़े सामंत स्वतंत्र राजा बन जाने का प्रयास करते थे। इस प्रवृत्ति से राज्य में सदा पारस्परिक कलह, गृहयुद्ध और विद्रोह की संभावना बनी रहती थी।

(4) दृढ़ सीमांत नीति का अभाव

आधुनिककाल के पूर्व भारत के समस्त आक्रमण उत्तर-पश्चिमी सीमा की ओर से ही हुए। भारत के अधिकांश नरेशों ने विदेशी नीति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र की सुरक्षा की अवहेलना भी की। न तो उन्होंने वहाँ कोई किलेबंदी की और न दृढ़ सुसज्जित और प्रशिक्षित सेना ही रखी। फलतः देश में प्रवेश करने में बाहरी आक्रमणकारी और शत्रु को कोई कठिनाई नहीं होती थी। आक्रमणकारियों को सीमा पर रोकने और खदेड़ने के प्रयत्न नहीं किए जाते थे। सीमांत क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्यों में एकता व संगठन का अभाव तो था ही, पर वे अपने पारस्परिक संघर्ष और युद्ध में इतने संलग्न रहते थे कि वे विदेशी आक्रमणकारी को रोकने में असमर्थ हो गए। इससे आक्रमणकारी सीमांत क्षेत्र से पंजाब में सरलता से आ सके और विजय प्राप्त कर सके। पंजाब से दिल्ली बढ़कर और वहाँ अपना सैनिक आधार बनाकर वे अन्य राज्यों को सरलता से परास्त कर सके।

(5) कूटनीति का अभाव

राजपूत सफल कूटनीतिज्ञ नहीं थे। उनमें छल-कपट और कूटनीति नहीं थी। वे सदैव धर्मयुद्ध करते थे। उनके युद्ध के अपने उच्च आदर्श और सिद्धांत थे। वे भागते या पीठ दिखाते हुए शत्रु को परास्त कर उसका वध नहीं करते थे। वे छल-कपट द्वारा युद्ध में विजयी होना नहीं चाहते थे। वे बड़े सीधे-सादे ईमानदार और वचन-बद्ध होते थे। अपनी वचन पूर्ति के लिए वे राष्ट्र-हितों का बलिदान तक कर देते थे और शत्रु के सम्मुख वे बड़े से बड़े भेद प्रकट कर देते थे, जिसका लाभ उठाकर शत्रुओं ने उन्हें परास्त किया। इसके विपरीत राजपूतों के तुर्क शत्रु कूटनीति और छलकपट में प्रवीण थे और वे राजनीति तथा

युद्धों में इनका खुल कर सदुपयोग करते थे और राजपूतों को अपने जाल में फँसा लेते थे। इससे राजपूतों का पराभव हुआ और उन्हें खूब क्षति उठानी पड़ी।

(6) मुस्लिम उपनिवेशों का अस्तित्व

सीमांत क्षेत्र तथा पंजाब व दिल्ली में प्रारंभिक विजय प्राप्त कर लेने के बाद मुस्लिम आक्रमणकारियों ने वहाँ अपने उपनिवेश और राज्य स्थापित कर लिए थे। हिंदुओं में और विशेषकर राजपूत नरेशों ने इन उपनिवेशों को नष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया। फलतः सिंध, सीमांत क्षेत्र, पेशावर, मुलतान, लाहौर और दिल्ली पर विदेशियों का अधिकार सरलता से हो गया और वहाँ उनके स्थायी राज्य बन गए।

(7) राजनीतिक उदासीनता

भारत में अनेक अरब और तुर्क व्यापारी आते-जाते रहते थे और उनमें से अनेक भारत में स्थायी रूप से बस गए। भारत के पश्चिमी तट पर उन्हें बसाने तथा देश के अन्य भागों में उन्हें स्थायित्व प्राप्त करने में राष्ट्रकूट नरेशों तथा अन्य राजाओं का हाथ था। इन अरब व्यापारियों ने विदेशों में भारत की राजनीतिक दुर्बलताएँ प्रदर्शित कीं और भारत में हिंदू धर्म के विरुद्ध इस्लाम का प्रचार किया तथा अरब और तुर्क आक्रमणकारियों को सहयोग दिया। इतना होने पर भी राजा-प्रजा दोनों में ही राजनीतिक उदासीनता रही। उन्होंने अरब-तुर्क व्यापारियों के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं किया।

(8) राजपूतों पर रक्षा और युद्ध का भार

इसके अतिरिक्त उस युग में देश की रक्षा और युद्ध का भार केवल राजपूतों पर ही था। बाहरी आक्रमणों के समय राजपूतों को ही शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा। देश के अन्य लोग और जातियाँ देश के प्रति उदासीन रहीं। राजपूतों को छोड़कर हिंदू समाज की सभी जातियाँ असामरिक हो गईं। फलतः सीमित संख्या वाले राजपूत दीर्घकाल तक बाहरी शत्रुओं से निरंतर युद्ध नहीं कर सके। उनकी क्षति होने लगी और उनकी संख्या में उत्तरोत्तर कमी आने लगी। इससे वे परास्त हो गए।

(9) पारस्परिक वैमनस्य और ईर्ष्याद्वेष

राजपूतों में पारस्परिक गृह-कलह, वैमनस्य और ईर्ष्या-द्वेष अत्यधिक था। राजपूत राज्यों में सद्भावना और सहयोग का सदा अभाव था। वे एक-दूसरे से निरंतर संघर्ष करने और उन्हें नीचा दिखाने में सदा तत्पर रहते थे। इसके अतिरिक्त राजपूत राजवंशों में वैमनस्य परंपरागत हो गए थे। इससे उनकी सैनिक-शक्ति आंतरिक झगड़ों में ही लग जाती थी। अतः उनकी शक्ति क्षीण हो गई और वे संगठित होकर विदेशियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा स्थापित कर उनका दृढ़ता से सामना नहीं कर सके।

(10) राजनीतिक और प्रशासकीय भेदभाव

शासन के महत्वपूर्ण पदों पर किसी भी वर्ग या जाति के, योग्य प्रतिभावान कार्यकुशल व्यक्ति की नियुक्ति होती थी, परंतु ब्राह्मणों व क्षत्रियों के वर्ग में से ही जिनकी मान प्रतिष्ठा अन्य वर्गों के व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक थी, ऐसे पदों पर नियुक्त होते थे। इस प्रशासकीय भेद और राजनीतिक पक्षपात के कारण अन्य वर्गों व जातियों के लोग राज्य के कार्यों व कर्तव्यों में नहीं होने से लोग असंतुष्ट थे। फलतः विदेशी आक्रमणों के संकटकाल में राजाओं को विशेष रूप से सहायता नहीं दी गई।

3.3.3.2. सामाजिक कारण

राजपूतों की पराजय या मुसलमानों की विजय के सामाजिक कारण निम्नलिखित हैं:-

(1) संकीर्ण सामाजिक भावना

पूर्वमध्य युग में समाज में संकीर्ण मनोवृत्ति थी। सामाजिक व्यवस्था और घृणित वर्ण व्यवस्था की विभिन्नता ने सैन्य संगठन को जर्जर और दुर्बल बना दिया था, सामाजिक और राजनीतिक एकता नष्ट हो गई थी। सामाजिक एकता का अभाव था। राजपूत और उनकी अनेक उपजातियों को विशेष महत्व दिया जाता था। अन्य वर्गों में भी जातियों और कुलों का महत्व था। जातियों और वर्गो में परस्पर कोई सहानुभुति और सहयोग नहीं था। कुछ विभिन्न जातियों और वर्गों के लोग अपने को अन्य जातियों और वर्गो के व्यक्तियों से ऊँचा व श्रेष्ठ समझते थे तथा अन्य कुलों व जातियों को हेय मानते थे। इस जातीय तथा कुलीनता के दंभ ने समाज को दुर्बल कर दिया था। इससे समाज की सुरक्षा और संगठन की ओर लोगों ने ध्यान नहीं दिया। अधिकांश प्रजा में देशभक्ति की भावना प्रोत्साहित करने के लिए कुछ नहीं था। आक्रमणकारियों को रोकने में प्रजा ने शासकों को सहयोग नहीं दिया।

जाति, कुल या वंश की शान से प्रेरित सामाजिक संकीर्णता के कारण राजपूत किसी अन्य राज्य के अधिनायक या सेनापति के अधीन संगठित होकर बाहरी शत्रु का सामना करने में अपना अपमान समझते थे। इसे वे अपने गौरव और प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानते थे। वर्ग एवं जाति विभाजन से उत्पन्न संकीर्ण मनोवृत्ति से राजपूतों का वीरत्व, साहस, रण-कौशल और सद्गुणों का उपयोग नहीं हो सका।

(2) विलासिता

शांति के समय राजपूतों का अधिकांश समय रनिवास की विलासिता और भोग-विलास में, सौंदर्य की गोद में द्यूत-क्रीड़ा और आखेट में तथा अन्य आमोद-प्रमोद में व्यतीत होता था। उनका यह सामाजिक पतन था। इसके अतिरिक्त निरंतर अफीम के सेवन और सुरा-पान से तथा बहुविवाह से उनकी बुद्धि कुंठित हो गई थी, शक्ति क्षीण हो गई थी तथा स्वभाव अस्थिर हो गया था और वे शीघ्र ही आवेश में आ जाते थे। इससे शत्रु का सामना होने पर उनका पक्ष दुर्बल पड़ जाता था।

(3) अंधविश्वास और भाग्यवादिता

राजपूतों में अंधविश्वास और भाग्य-वादिता का विशेष महत्व था। वे भविष्यवाणी और ज्योतिषियों में अधिक विश्वास करते थे। वे भाग्य पर विश्वास करके उसके सहारे बैठे रहते थे। उनकी यह धारणा व अंधविश्वास हो गया था कि ''कलयुग में म्लेच्छों का शासन होगा''। वे तुर्को और अरबों के आक्रमणों और राज्य को नियति का निर्णय जानकर बैठे रहे। इससे समाज की कर्मण्यता और उत्साह पर निराशा का गहरा आवरण हो गया। देवी-देवताओं और भाग्य की आड़ में तथा ज्योंतिषियों के कथन में सामाजिक जीवन नष्ट हो गया, लोगों में जागरुकता और कार्यक्षमता लुप्त हो गई। उनमें आत्मविश्वास नष्ट हो गया, और वे उत्साही आक्रमणकारियों के सम्मुख धाराशायी हो गए।

3.3.3.3. सैनिक कारण

राजपूतों की पराजय या मुसलमानों की विजय के सैनिक कारण निम्नलिखित हैं :–

(1) पदातियों का बाहुल्य

राजपूत सेनाओं में पैदल सैनिकों की संख्या सबसे अधिक होती थी। इससे वे तीव्रगति से संचालित नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त पदाति न तो अधिक गतिशील और पैंतरेबाज होते थे और न पूर्ण रूप से प्रशिक्षित। उन्हें पराजित करना अत्यंत सरल था। इसके विपरत तुर्कों की संख्या में दृढ़ अश्वारोहियों की संख्या अधिक होती थी। वे बड़े गतिशील और प्रशिक्षित होते थे। राजपूतों के पदाति इन अश्वारोहियों से सफलतापूर्वक युद्ध करने में असमर्थ थे। इसके अतिरिक्त आक्रमणकारियों की सेना में अरबों, पठानों और तुर्कों जैसे कुदरती लड़ाकू सैनिकों ने आश्चर्यजनिक गतिशीलता प्रदान की।

(2) स्थायी सेना का अभाव

राजपूत में विशाल संगठित स्थायी सेना की संख्या नगण्य थी। राजा और प्रशासक सामंतों द्वारा प्रदत्त सेना पर निर्भर रहते थे। अधिक सैनिकों की आवश्यकता होने पर नौसिखियों को भी सेना में भर्ती कर रणक्षेत्र में भेज दिया जाता था। युद्ध-काल में भर्ती किए सैनिक युद्धकला से अपूर्ण तथा अपरिचित रहते थे। इस प्रकार सामंतों की सेना और नौसिखियों की सेना में उचित सैनिक प्रशिक्षण, अनुशासन और योग्यता का नितांत अभाव था। उनमें अपने-अपने व्यक्ति भी रहते थे। फलतः पराजय स्वाभाविक था।

(3) सुरक्षा सेना का अभाव

राजपूत युद्धों के समय अपने साथ और पीछे सामरिक स्थानों में सुरक्षा सेना नहीं रखते थे। वे अपनी संपूर्ण सेना के साथ युद्ध प्रारंभ कर देते थे। जब वेयुद्ध करते-करते थक जाते तब शत्रु अपनी रक्षित सेना का उपयोग करते। इस रक्षित और नई ताजी सेना से युद्ध में संलग्न सेना को विशेष सहायता प्राप्त होती थी, उसमें साहस व उत्साह का संचार होता था और थके हुए राजपूतों को परास्त करना सरल होता था। एक ही बार में युद्ध निर्णायक हो जाते थे।

(4) सैनिकों की दोषपूर्ण नियुक्ति

राजपूत सेनाओं में सैनिक और अधिकारी के लिए पिता के पुत्र को नियुक्त किया जाता था, चाहे उसमें सैनिक योग्यता और प्रतिभा हो या न हो, चाहे उसमें युद्ध-प्रियता हो या न हो। इसके अतिरिक्त सैनिक अशक्त और वृद्ध होने पर भी अपने पद पर बना रहता था। सैनिकों की भर्ती के क्षेत्र भी सीमित होते थे। इससे युवक सैनिकों का निरंतर प्रवाह अवरुद्ध हो जाता था। मुसलमानों की सेनाओं में ये तत्व नहीं थे। उन्हें मध्य एशिया के ठंडे देशों से सदैव कुशल, वीर और युवा सैनिक निरंतर प्राप्त होते रहते थे।

(5) हस्ति सेना की दुर्बलता व अश्वारोही सेना की उपेक्षा

राजपूत अपनी सेना में हाथियों को आगे रखते थे, जिससे कि वे आक्रमणकारियों को रौंद कर नष्ट कर दें, पर हस्तिसेना युद्ध में आघातों से और भीषण मार-काट से व्याकुल होकर बिगड़ जाती थी और हाथी पीछे मुड़कर शत्रुपक्ष की अपेक्षा अपनी ही सेना को रौंद डालते और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालते थे। इसके विपरीत तुर्क या अरब सेना में हाथियों का उपयोग शत्रु के दुर्ग-क्षरों को तोड़ने के लिए या शत्रु की प्रगति को अवरुद्ध करने के लिए किया जाता था।

हस्तिसेना के विपरीत मुसलमान अश्वारोही सेना का अधिक उपयोग करते थे। राजपूत पदाति सेना, शत्रुओं की अश्वारोही सेना का सामना करने में असमर्थ होती थी और राजपूतों की हस्तिसेना विपक्षी अश्वारोही सेना का दौड़ में मुकाबला नहीं कर सकती थी। इस प्रकार हस्तिसेना राजपूतों के लिए घातक ही होती थी। इस युग में सैनिक संगठन का मूल सिद्धांत था गतिशीलता। वह युग अश्वारोही सेना का युग था। आश्चर्यजनक गतिशीलता वाली सुसज्जित अश्वारोही सेना विजय के लिए समय की सबसे बड़ी माँग थी। राजपूतों ने इसकी घोर उपेक्षा की।

(6) राजपूतों की प्राचीन युद्ध-प्रणाली

राजपूत पुरातन युद्ध-प्रणलियों का ही उपयोग करते थे। राजपूत सेनापति सैन्य-संचालन के साथ-साथ स्वयं भी सैनिकों के समान रणक्षेत्र में युद्ध करते और अपने वीरत्व का प्रदर्शन करते थे। इसका दुष्परिणाम यह होता था कि उन्हें युद्ध में संलग्न अपनी सेना की तनिक भी खबर नहीं हो पाती थी और न वे स्वयं अपनी सुरक्षा की ही चिंता कर पाते थे। इससे कभी-कभी सेनापति के घायल हो जाने पर या युद्ध में वीरगति प्राप्त होने पर, विजय करती हुई सारी राजपूत सेना ही रणक्षेत्र से भाग खड़ी होती थी। सेनापति

के अभाव में पराजय की आशंका से सारी सेना हतोत्साहित हो जाती थी और युद्ध से पलायन करने लगती थी। शत्रु इसका लाभ उठाकर सरलता से विजय प्राप्त कर लेते थे।

राजपूतों के अस्त्र-शस्त्र भी प्राचीन ढंग के होते थे। वे प्रायः तलवार और भालों का ही उपयोग करते थे। इससे वे विदेशी मुस्लिम तीरंदाजों के सम्मुख ठहर नहीं पाते थे।राजपूत तीरंदाजी की युद्ध-कला से और तोपों से लड़ने की प्रथा से लगभग अनभिज्ञ थे। तलवार, ढाल और भाले का सदुपयोग तभी हो सकता था जब सैनिक आमने-सामने व्यक्तिगत युद्ध कर रहे हों, पर विदेशी मुसलमान आक्रमणकारी सैनिक दूर से ही तीरों द्वारा अपने शत्रुओं को घायल कर परास्त कर देते थे। राजपूत विदेशी तीरंदाजी के सामने ठहर न सके। विदेशी सैनिक चलते-चलते घोड़ों की काठी पर बैठकर धनुष-बाण का प्रयोग करते थे। इससे उनको राजपूतों की भारी-भरकम और मंद गति से चलने वाली सेना की तुलना में अधिक लाभ होता था।

(7) दोषपूर्ण युद्धयोजना और सैन्य-संचालन

राजपूत नरेशों में निर्दिष्ट युद्ध योजना नहीं होती थी। वे कल, कैसे और कहाँ युद्ध करेंगे, इसका कोई निर्णय नहीं होता था। इससे वे अपनी संपूर्ण सैनिक-शक्ति का सदुपयोग नहीं कर सकते थे। उन युद्धों में जिनमें अनेक छोटे-छोटे राजपूत नरेश अपनी सेना सहित सम्मिलित होते थे, निर्दिष्ट युद्ध-योजना का अभाव अत्यंत ही घातक होता था। विभिन्न राजा या सेना-नायक अपनी-अपनी सेना को अलग-अलग मनमाने ढंग से व विभिन्न स्थानों से युद्ध के आदेश देते और युद्ध करते थे। सैनिकों में भी स्वामि-भक्ति विभाजित होती थी, एक सुयोग्य वीर अधिनायक के नेतृत्व में युद्ध करना वे उनके सम्मान व प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानते थे। इससे रणक्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न होती थी और विजय की अपेक्षा पराजय ही अधिक होती थी। इसके विपरीत मुसलमान योजनापूर्वक संगठित होकर युद्ध करते थे। उनकी व्यूह रचना भी श्रेष्ठ थी। यद्यपि राजपूत अपने बलवान, साहसी विरोधियों की अपेक्षा कम वीर और साहसी नहीं थे, पर वे युद्ध-विन्यास और सैन्य-संचालन में अपने विरोधियों से पीछे थे। उनके पराक्रम और शौर्य में किसी प्रकार की कमी नहीं थी, कमी थी तो उस पराक्रम और वीरत्व को लाभप्रद ढंग से उपयोग करने की। अतः राजपूत पराजित हुए।

(8) योग्य और अनुभवी सेनापतियों और अधिकारियों का अभाव

राजपूतों में उत्साह और वीरता की कमी नहीं थी, परंतु कमी थी दूरदर्शी, सफल योग्य नेताओं की, जो उन्हें संकटकाल में एकता के सूत्र में बाँधकर विदेशी आक्रमणकारियों को सफलता से परास्त करवा दे। इसके विपरीत मुसलमानों में श्रेष्ठ नेतृत्व की कमी नहीं थी, उनके सेनापति बड़े रण-कुशल और अनुभवी होते थे और अपनी सेना का संचालन बड़ी सफलता और दूरदर्शिता से करते थे।

(9) राजपूतों का रक्षात्मक युद्ध

राजपूतों ने सीमांत सुरक्षा की अवहेलना की। इससे विदेशी आक्रमणकारी सरलता से पंजाब और दिल्ली तक आ गए और उन्होंने अपनी सत्ता दृढ़ता से स्थापित कर ली। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि राजपूतों को रक्षात्मक युद्ध करना पड़ा। वे कभी भी आक्रांत न हो सके। उनके समस्त युद्ध भारत में ही हुए। विजय चाहे जिस पक्ष की हो, क्षति भारतीयों की ही होती थी। उनके कृषि, व्यापार और उद्योग-धंधे अस्त-व्यस्त होते थे, जिसका सीधा प्रभाव राजपूत अर्थव्यवस्था पर पड़ता था अतः आर्थिक हानि का विपरीत प्रभाव भी सेना व युद्ध पर पड़ता था, जिससे राजपूतों की पराजय हो जाती थी।

(10) मुसलमानों की सैन्य विशेषताएँ और सफलताएँ

मुसलमान आक्रमणकारियों ने मध्य एशिया के अनेक प्रदेशों में विजय प्राप्त की थी। इससे उनका सामरिक अनुभव, उत्साह और साहस अधिक बढ़ गया था। भारत में भी निरंतर मिलने वाली विजयों से भी उनके उत्साह और शौर्य में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसके विपरीत राजपूतों की निरंतर पराजयों से वे हतोत्साहित हो गए थे। फलतः उन पर विजय प्राप्त करना सरल था। मुसलमानों में अश्वारोही सेना की बाहुल्यता, रण-कुशलता तथा तीव्रगति से उनकी विजय सुगम हो गई। राजपूतों के सैनिकों की संख्या सीमित थी। राजपूत सैनिकों के विनाश की पूर्ति अन्य जाति के युवकों और सैनिकों ने नहीं की। इसके विपरीत मुसलमानों को मध्य एशिया के विभिन्न प्रदेशों से निरंतर सैनिक प्राप्त होते रहते थे। इनकी सेना में भी विशेष स्फूर्ति और तीव्र गतिशीलता रहती थी। सेना भी सुसंगठित् आधुनिकतम, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित और प्रशिक्षित तथा अनुशासन-बद्ध होती थी। मुसलमानों के सेनानायक भी रण-कुशल और सैन्य-संचालन में अनुभवी और प्रवीण थे।

3.3.3.4. आर्थिक कारण

राजकीय वैभव और विलासिता ने तथा सतत युद्धों ने राजपूत नरेशों के कोष को रिक्त कर दिया था। मंदिरों, धार्मिक स्थानों, तीर्थों आदि में जनता ने अतुल संपत्ति संचित कर रखी थी। विदेशी आक्रमणकारियों ने इन स्थानों पर आक्रमण कर वहाँ की अतुल संपत्ति को लूटा, नगरों को और धन-संपन्न व्यक्तियों को भी लूटा, उनकी संपत्ति भी प्राप्त कर ली और अनेक स्थानों को नष्ट कर दिया। इससे कृषि एवं उद्योग व्यवसाय अस्त-व्यस्त होते गए और देश की आर्थिक क्षीणता में वृद्धि होती गई। इससे राज्य की सैन्य-शक्ति भी क्षीण होती गई एवं राजपूतों को परास्त करना सरल और सुगम हो गया।

3.3.3.5. धार्मिक कारण

भारत पर आक्रमण करने के हेतु मुसलमान सैनिकों और नेताओं का प्रमुख निश्चित उद्देश्य था कि भारत में जेहाद कर इस्लाम धर्म का प्रसार करना, मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ना-फोड़ना और लूटना। उनकी दृढ़ धारणा थी कि जेहाद और इस्लाम धर्म के प्रसार में पुण्य प्राप्त होता है और इसमें प्राण त्यागने से जन्नत या स्वर्ग प्राप्त होता है। यदि वे भारत में जेहाद और इस्लाम के लिए युद्ध करके विजयी हुए तो उन्हें अतुल संपत्ति और राज्य प्राप्त होगा और यदि पराजित हुए या वीरगति को प्राप्त हुए तो भी उन्हें पुण्य मिलेगा और खुदा जन्नत देगा। फलतः आक्रमण करने और युद्ध में लड़ने के लिए तुर्कों का उत्साह अत्यधिक था। राजपूत सैनिकों और राजाओं में निर्दिष्ट राष्ट्रीय भावना और धार्मिक उद्देश्य के अभाव से राजपूतों में उत्साह, आत्मविश्वास, दृढ़ता और साहस का संचार नही हो पाया था।

3.3.4. मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम और प्रभाव

भारत पर मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम एवं प्रभाव निम्नलिखित हैं:–

3.3.4.1. भारतीय राजसत्ता और शक्ति का अंत

मुहम्मद गोरी के आक्रमणों और विजय के पूर्व उत्तरी भारत में हिंदुओं के विभिन्न स्वतंत्र राज्य विद्यमान थे। उनमें अनेक शक्तिशाली और समृद्ध थे। उनमें से कुछ उत्तरी भारत में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे और यह संभव था कि भारत में उस समय गुप्त साम्राज्य या वर्द्धन साम्राज्य की भाँति कोई विशाल सार्वभौम सशक्त साम्राज्य स्थापित हो जाता। परंतु मुहम्मद गोरी के अभियानों और विजयों ने हिंदुओं के इस प्रयास को समाप्त कर दिया। उसके तुर्की साम्राज्य स्थापित करने

के प्रयासों और दिग्विजयों ने हिंदुओं की साम्राज्यवादी राजसत्ता और शक्ति को इतना गहरा आघात लगाया कि तराइन के युद्ध के बाद ऐसा कोई बलशाली और प्रभावशाली हिंदू नरेश नहीं बचा था, जो हिंदुओं की शक्ति संवारता, संगठित करता और विदेशी आक्रांताओं को देश से खदेड़ देता। भारत की राजधानी दिल्ली पर गोरी और बाद में तुर्क शासकों का अधिकार हो गया, जिससे उत्तरी भारत के विभिन्न दूरस्थ क्षेत्रों की विजय करना उनके लिए सरल हो गया। एक नवीन मुस्लिम साम्राज्य का अभ्युदय हुआ। यद्यपि मराठों और राजपूतों ने अनेक बार दृढ़ केंद्रीय साम्राज्य की स्थापना के प्रयास किए, पर वे असफल रहे और वे मुस्लिम सत्ता और सम्राज्य का शीघ्र अंत नहीं कर सके।

3.3.4.2. मुस्लिम राजसत्ता की स्थापना

मुहम्मद गोरी के अभियानों और विजयी होने का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था– भारत में मुस्लिम राज्य और शक्ति की स्थापना। इससे पूर्व अरब विजेताओं और महमूद गजनवी ने जो प्रयत्न किए थे, वे कई कारणों से असफल रहे। गोरी का लक्ष्य ही भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करना था और यह मुस्लिम साम्राज्य भारत में लगभग छह सदियों तक विद्यमान रहा, जिसके परिणामस्वरूप मुसलमान शासक भारत के विधाता रहे।

3.3.4.3. खलीफा से मान्य धर्म सापेक्ष राजसत्ता

दिल्ली में जो राजसत्ता स्थापित हुई उसे सल्तनत कहा गया। उत्तरी भारत की विजय के पूर्व तुर्कों ने फारस पर विजय प्राप्त कर ली थी और वहाँ के रीति-रिवाज, शासन प्रणाली तथा अन्य विभिन्न विचारधाराओं को अपना लिया था। जब दिल्ली की सल्तनत स्थापित हुई, तब उन्होंने यह सल्तनत फारसी परंपराओं पर आधारित की। इस सल्तनत को उन्होंने शरीयत और इस्लाम से प्रभावित एक धर्म सापेक्ष राज्य बना दिया, जो सत्ताशाही या बादशाही के ऊपर निर्भर था। इस सल्तनत की दूसरी विशेषता यह थी कि यह पूर्वी खिलाफत के अधीन मानी जाती थी। अपने पद को स्थायित्व देने के लिए दिल्ली के सुल्तान अपने को खलीफा का अधीनस्थ प्रतिनिधि कहकर खलीफा की मान्यता प्राप्त करते थे क्योंकि खलीफा इस्लामी जगत का सर्वोच्च राजनीतिक और धार्मिक सत्ता का अधिकारी था। सुल्तान इल्तुतमिश दिल्ली का प्रथम सुल्तान था, जिसने अब्बासी खलीफा से प्रार्थना करके सुल्तान के रूप में मान्यता प्रदान कर ली थी। खलीफा ने उसे 'वफादार का नायब' कहा। बाद में दिल्ली के सुल्तानों में खलीफा की स्वीकृति प्राप्त करने की परंपरा बन गई। दिल्ली के शासकों को खलीफा की ओर से 'नसीर-ए-अमी-उलमोनिन' (स्वामिभक्त सरदारों के सहायक) की उपाधि प्रदान की जाती रही।

3.3.4.4. केंद्रीकृत साम्राज्यवाद का प्रारंभ

तुर्कों के आक्रमणों का तात्कालिक प्रभाव यह रहा कि उत्तरी भारत में राजपूतों की सामंतवादी परंपराएँ और छोटे-छोटे राज्य नष्ट हो गए। तुर्क शासकों ने मुख्य रूप से राजपूत शासकों और सामंतों को उनके स्थानों से पृथक् कर दिया और शेष से कुछ शर्तों पर अपनी राजसत्ता की अधीनता स्वीकार करवा ली। तुर्कों की राजसत्ता से, राजपूत शासकों और सरदारों की सत्ता का ह्रास हुआ, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे राजपूत सरदारों जैसे- राय, राणा, रावत, ठाकुर आदि का जड़ से उन्मूलन नहीं किया जा सका।

तुर्कों ने दिल्ली में केंद्रीय राजसत्ता और राजतंत्र स्थापित किया। सुल्तान इल्तुतमिश और बलबन दोनों सत्ता के केंद्रीकरण में विश्वास करते थे। इससे केंद्रीय प्रशासन की प्रवृत्ति बढ़ी। सर्वोच्च सत्ता और अधिकार सुल्तान के हाथों में केंद्रित थे, जिससे राजनीतिक और आर्थिक केंद्रीकरण हुआ और शोषण की नवीन प्रणाली प्रारंभ हुई। दिल्ली साम्राज्य के सुदूर स्थित प्रदेशों को केंद्रीय शासन

व्यवस्था में जोड़ने के लिए 'इक्ता' प्रणाली अपनाई गई। दिल्ली सल्तनत की संपूर्ण शक्ति का मूल आधार सेना थी। इसलिए पूरे साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों को इक्ता के रूप में विभाजित कर दिया गया और प्रत्येक इक्ता को एक प्रमुख सेनापति के अधिकार में दे दिया गया। वह अपने इक्ता क्षेत्र का राजस्व वसूल करता था। उसका एक विशेष भाग वह प्रशासन और अपनी सेना के रख-रखाव के लिए व्यय करता था और शेष भाग वह सुल्तान के केंद्रीय शासन को देता था। इक्तादार का स्थानांतरण एक स्थान से दूसरे स्थान तक होता था। इक्तादार सुल्तान के प्रति स्वामिभक्त और निष्ठावान रहता था। इसके अतिरिक्त केंद्रीय और प्रांतीय अधिकारियों की नियुक्ति, तैनाती, स्थानांतरण, पदोन्नति, पदावनति और सैनिक प्रशासन में एकरूपता लाई गई। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत में केंद्रीकरण की प्रवृत्तियाँ और साम्राज्यवादी भावनाएँ बढ़ गई।

केंद्रीय अधिकारियों के विषय में एक विशेष तथ्य यह है कि राजपूत सामंतों की भाँति ये किसी श्रेष्ठ कुलीन वर्ग के नहीं थी। वे किसी एक वंश की परंपरा में विश्वास नहीं करते थे। सल्तनत की राजनीति और प्रशासन में अमीर वर्ग के व्यक्ति प्रमुख थे, केंद्रीय और प्रांतीय प्रशासन में सभी महत्वपूर्ण पदों पर तुर्क अधिकारियों का विशिष्ट एकाधिकार था, पर ये सभी अधिकारी श्रेष्ठ उच्च कुलीन वंशों के नहीं थे, अपितु वे तथाकथित गुलामवंशों के थे। इन उच्च पदाधिकारियों को खाँ, अमीर या मलिक कहा जाता था और वे अपने आपको राजसत्ता का अधिकारी और भागीदार मानते थे। वे सुलतान का विरोध भी करते थे और कभी-कभी षड्यंत्र कर उसकी हत्या भी कर देते थे।

3.3.4.5. नागरिक जीवन और शहरीकरण का नवीनीकरण

राजपूत राज्यों के नगर 'कुलीन नगर' थे, जहाँ ऊँच-नीच के भेदभाव थे, सामाजिक विषमताएँ और विसंगतियाँ थी। तुर्कों ने अब ऐसी बस्तियों और नवीन नगरों का निर्माण किया, जिनमें सामाजिक और आर्थिक जीवन भेद-भावों, छुआ-छूत और वर्ण-व्यवस्था पर आधारित नहीं था। ये नगर के श्रमिकों, शिल्पियों, कारीगरों, दस्तकारों, शूद्रों, बुनकरों, कसाइयों, चांडालों, ब्राह्मणों, वैश्यों, हिंदुओं और मुसलमानों सभी के लिए खुले थे। भारत के बाहर के विभिन्न देशों से भी कारीगर और इस्तकार इन नवीन नगरों में आकर बस गए और कलापूर्ण कालीन और दरियाँ बुनने जैसे नवीन धंधे प्रारंभ हुए। आकर्षक हस्तशिल्प की वस्तुओं को बनाने के विभिन्न धंधों का खूब विकास हुआ। इन्हीं नगरों में सुल्तानों, शासकों, अधिकारियों और धन संपन्न अमीरों के गुलाम भी रहने लगे और विभिन्न धंधों में लग गए। प्रारंभिक तुर्क सुल्तानों की मुख्य राजसत्ता और शक्ति ऐसे ही नवीन नगरों पर अवलंबित थी। ऐसे नगरवासियों ने, वहाँ के श्रमिक वर्गों ने, मुसलमान गुलामों ने, धर्म परिवर्तित नवीन मुसलमानों ने और इस्लाम के विदेशी अनुयायियों ने नवीन तुर्की शासन की सेवाओं में अपने आपको समर्पित कर दिया। ऐसे श्रमिक वर्गीय नगरों के उदय और उत्कर्ष से तुर्की राजसत्ता दृढ़ होती गई। शासक वर्ग, श्रमिकों और कारीगरों के वर्गों तथा नए व्यवसायियों की मिली जुली आबादी वाले नवीन नगरों में नवीन व्यापार व्यवसायों का, मंडियों और बाजारों का विकास हुआ और वाणिज्य-व्यापार को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इससे मध्य युग में एक नवीन शहरी अर्थ-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

3.3.4.6. विदेशी व्यापार

भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित हो जाने से एवं नवीन स्वरूप की शहरी अर्थ-व्यवस्था प्रारंभ हो जाने से भारत का गजनी, गोर, फारस, अरब, खुरासान, बल्ख आदि अन्य मुस्लिम देशों से तथा एशिया और अफ्रीका के निकटतम देशों में व्यापारिक संपर्क बढ़ गया। विदेशी व्यापारी भारतीय नगरों और मंडियों में आने-जाने लगे। विदेशी मुस्लिम व्यापारियों का हिंदू व्यापारियों से संपर्क बढ़ा। नहरवाला

(गुजरात) के एक हिंदू व्यापारी विशाल अबजार ने गजनी से व्यापार किया। इसामी के कथनानुसार चीन के व्यापारी दिल्ली आते थे। भारत की अनेकानेक वस्तुएँ सीमांत क्षेत्र के दरों से इन दूरस्थ देशों में पहुँचने लगीं। इससे राजनीतिक दृष्टिकोण विस्तृत हो गया और व्यापारिक अलगाव की नीति क्षीण हो गई। इसी बाहरी वाणिज्य व्यापार से भारतीय समृद्धि में खूब वृद्धि हुई।

3.3.4.7. सैन्य परिवर्तन

राजपूतों की सामंती सैनिक व्यवस्था के स्थान पर नवीन स्वरूप की सेना गठित की गई। राजपूतों के युग में सैनिक कार्य और युद्ध राजपूतों के एक वर्ग विशेष का ही विशिष्टि अधिकार था। राजपूत सामंत इसमें प्रमुख कर्ता थे। अब सामंती सेना की ये परंपराएँ त्याग दी गई। अब शक्तिशाली स्थायी सेना गठित की जाने लगी, जिनमें विभिन्न वर्गों के सैनिक थे, भारतीय भी और अरब पठान, तुर्क, मंगोल, जैसे विदेशी भी। सेना में पदाति और 'सवारने मुकातला' (अश्वारोही लड़ाकू सैनिक) विशेष अंग बन गए। तीव्र गतिशील अश्वारोही सेना पर अधिक बल दिया जाने लगा। हाथियों वाली भारी भरकम सेना और उनकी शक्ति के स्थान पर सैन्य गतिशीलता और तीव्र आक्रमण क्षमता सैन्य संगठन के सिद्धांत हो गए।

3.3.4.8. नवीन धर्म और समाज का प्रारंभ

मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के बाद भारत में मुस्लिम शासकों ने इस्लाम के प्रचार और प्रसार के लिए राज्य के सभी साधनों का उपयोग किया। राज्यपद, प्रगति और धन-संपत्ति और समृद्धि प्राप्ति के लिए इस्लाम अपनाना सरल मार्ग था। फलतः अनेकानेक हिंदू, मुसलमान हो गए। इससे कालांतर में धार्मिक और सांप्रदायिक दुर्भावनाएँ और दोष उत्पन्न हो गए। समाज में हिंदू और मुस्लिम ऐसे दो वर्ग बन गए जो समानांतर रेखाओं के समान कभी मिल नहीं सकते थे। मुस्लिम वर्ग सदा ही हिंदुओं से अपने को अलग समझता रहा और प्रेरणा तथा प्रोत्साहन के लिए मक्का और मदीना की ओर देखता रहा। भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों पर इन प्रवृत्तियों का बुरा प्रभाव पड़ा।

3.3.4.9. सांस्कृतिक प्रभाव

मुस्लिम साम्राज्य स्थापित होने से, इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रसार से भारत में एक नवीन इस्लामी संस्कृति का विकास हुआ। इस्लाम की पाश्चात्य प्रवृत्तियाँ भारत में प्रविष्ट हो गईं, जिससे भारतीय साहित्य, कला और दैनिक जीवन अत्यधिक प्रभावित हुए। स्थापत्यकला में मस्जिदों और मकबरों का निर्माण प्रांरभ हुआ। इनमें गुंबदोंऔर मेहराबों के स्वरूप का विकास हुआ। साहित्य में फारसी व नई भाषा 'हिन्दवी' का प्रचार बढ़ा। प्राथमिक शिक्षा के लिए मस्जिदों में मकतब और उच्च शिक्षा के लिए मदरसों का प्रारंभ हुआ। इनमें इस्लाम की शिक्षा प्रमुख थी।

3.3.5. सारांश

राजपूतों की पराजय के कारण

राजपूतों की पराजय एवं मुस्लिमों की सफलता के कारण निम्नलिखित हैं:–

राजनीतिक कारण

1. राजनीतिक विशृंखलन
2. दृढ़ केंद्रीय सत्ता और राष्ट्रीयता का अभाव
3. सामंतशाही
4. दृढ़ सीमांत नीति का अभाव

5. कूटनीति का अभाव
6. मुस्लिम उपनिवेशों का अस्तित्व
7. राजनीतिक उदासीनता
8. राजपूतों पर रक्षा और युद्ध का भार
9. पारस्परिक वैमनस्य और ईर्ष्याद्वेष
10. राजनीतिक और प्रशासकीय भेदभाव

सामाजिक कारण

1. संकीर्ण सामाजिक भावना
2. विलासिता
3. अंधविश्वास और भाग्यवादिता

सैनिक कारण

1. पदातियों का बाहुल्य
2. स्थायी सेना का अभाव
3. सुरक्षा सेना का अभाव
4. सैनिकों की दोषपूर्ण नियुक्ति
5. हस्ति सेना की दुर्बलता व अश्वारोही सेना की उपेक्षा
6. राजपूतों की प्राचीन युद्ध-प्रणाली
7. दोषपूर्ण युद्ध-योजना और सैन्य-संचालन
8. योग्य और अनुभवी सेनापतियों और अधिकारियों का अभाव
9. राजपूतों का रक्षात्मक युद्ध
10. मुसलमानों की सैन्य विशेषताएँ और सफलताएँ

आर्थिक कारण

1. राजकीय वैभव और विलासिता
2. रिक्त कोष
3. मंदिरों में धन संचय

धार्मिक कारण

1. मुस्लिमों की धार्मिक कट्टरता
2. राजपूतों में वर्णात्मक कट्टरता
3. राजपूतों की सहिष्णु धार्मिक नीति

मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम और प्रभाव

भारत पर मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम एवं प्रभाव निम्नलिखित हैं:–

1. भारतीय राजसत्ता और शक्ति का अंत
2. मुस्लिम राजसत्ता की स्थापना
3. खलीफा से मान्य धर्म सापेक्ष राजसत्ता
4. केंद्रीकृत साम्राज्यवाद का प्रारंभ
5. नागरिक जीवन और शहरीकरण का नवीनीकरण
6. विदेशी व्यापार

7. सैन्य परिवर्तन
8. नवीन धर्म और समाज का प्रारंभ
9. सांस्कृतिक प्रभाव

3.3.6. बोध प्रश्न

3.3.6.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के कोई दो राजनीतिक कारण लिखिए।
2. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के कोई दो सामाजिक कारण लिखिए।
3. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के कोई दो सैन्य कारण लिखिए।
4. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के कोई दो आर्थिक कारण लिखिए।
5. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के कोई दो धार्मिक कारण लिखिए।
6. भारत में मुस्लिम आक्रमणों के कोई दो परिणाम लिखिए।
7. भारत में मुस्लिम आक्रमणों के कोई दो प्रभाव लिखिए।

3.3.6.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के राजनीतिक कारणों का वर्णन कीजिए।
2. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के सामाजिक कारणों का वर्णन कीजिए।
3. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के सैन्य कारणों का वर्णन कीजिए।
4. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के आर्थिक कारणों का वर्णन कीजिए।
5. तुर्क-राजपूत संघर्ष में राजपूतों की पराजय के धार्मिक कारणों का वर्णन कीजिए।
6. भारत में मुस्लिम आक्रमणों के परिणामों की विवेचना कीजिए।
7. भारत में मुस्लिम आक्रमणों के प्रभावों की विवेचना कीजिए।

3.3.7. संदर्भ ग्रंथ

1.

खंड-4 : सल्तनत काल
इकाई-3 : भक्ति आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

4.3.1. उद्देश्य
4.3.2. प्रस्तावना
4.3.3. भक्ति आंदोलन का स्वरूप
4.3.4. भक्ति-आंदोलन के उदय के कारण
4.3.5. मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन
4.3.5.1. नवीन परिस्थितियाँ
4.3.5.2. शहरीकरण एवं केंद्रीकरण
4.3.6. भक्ति आंदोलन का विकास
4.3.7. भक्ति संतों की विचारधारा
4.3.8. भक्ति आंदोलन का नवीन दृष्टिकोण
4.3.9. भक्ति आंदोलन : जन आंदोलन?
4.3.10. भक्ति आंदोलन की असफलता
4.3.11. भक्ति आंदोलन के प्रमुख संत
4.3.11.1. रामानंद
4.3.11.2. रामानुज
4.3.11.3. माध्वाचार्य
4.3.11.4. बल्लभाचार्य
4.3.11.5. रैदास
4.3.11.6. नानक
4.3.11.7. चैतन्य महाप्रभु
4.3.11.8. संत कबीर
4.3.11.9. मीराबाई
4.3.11.10. तुलसीदास
4.3.11. सारांश
4.3.12. बोध प्रश्न
4.3.12.1. लघु उत्तरीय प्रश्न
4.3.12.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
4.3.13. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.3.1. उद्देश्य

भक्ति आंदोलन तेरहवीं-चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दियों में हुए महत्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के कारण विकसित हुआ जो कबीर, नानक और रविदास की कविताओं में अपने चरमोत्कर्ष पर मिलता है। संभवतः यह आंदोलन नए भौतिक परिवर्तनों की देन है। यह आंदोलन क्यों हुआ? कैसे

हुआ? इसके प्रतिपादक कौन थे? इसके क्या प्रभाव हुए? इन सभी तथ्यों पर प्रकाश डालना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

4.3.2. प्रस्तावना

तुर्क शासन की स्थापना के बाद भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आरंभ हुए। इन नई परिस्थितियों ने व्यापारियों और कारीगरों का सीधा संबंध और गहरा करने में सहयोग दिया। व्यापारी कला और संस्कृति के आदान-प्रदान में भी महत्वपूर्ण संवाहक सिद्ध हुए। भारत के विभिन्न प्रदेशों के साहित्य में इस योगदान की विस्तार से चर्चा मिलती है। मध्यकाल के हिंदी साहित्य में भी छुटपुट रूप से हमें इस संबंध में अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। मुल्ला दाऊद, कबीर, नानक और सूरदास का साहित्य विशेष रूप से दृष्टव्य है। ये व्यापारी देश के अंदर ही व्यापार नहीं करते थे, बल्कि दूसरे देशों में भी जाते थे। इसके साथ भारत की कला साहित्य और संस्कृति बाहर गई और वहाँ से अनेक विचार धाराएँ और साहित्य भारत में आया। इन नई परिस्थितियों ने शिल्पी वर्ग को बहुत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बना दिया था। संत मत में बहुसंख्या इसी शिल्पी वर्ग की है। इसके बाद व्यापारी और किसान आते हैं।

इन नई परिस्थितियों के संदर्भ में आंदोलन के परिवर्तन का भी पक्ष सार्थक रूप में विकसित होता है, जिसका सबसे शक्तिशाली चित्रण कबीर, नानक, रैदास और दादू दयाल के साहित्य में हुआ है। एक ओर आर्थिक उत्पादन में कुशलता और वृद्धि जिसके कारण किसानों और दस्तकारों में शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना की प्रखर अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरी ओर राज्यशक्ति की बढ़ती हुई माँग तथा विशेषकर राज्य कर्मचारियों के भ्रष्टाचार तथा तीसरी ओर सामाजिक अत्याचार जिसका सबसे ज्वलंत उदाहरण जाति प्रथा है, सामाजिक और प्रशासनिक अत्याचार के प्रति विरोध की भावना का सबसे मर्मांतक चित्रण कबीर और नानक के साहित्य में हुआ है।

4.3.3. भक्ति आंदोलन का स्वरूप

भारतीयों का आदिकाल से जीवन का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना रहा है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रमुख रूप से तीन साधन बताए गए हैं- कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग। वैदिक काल में कर्म-मार्ग पर विशेष बल दिया जाता था। विभिन्न प्रकार के यज्ञ तथा कर्मकांडों द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की आशा की जाती थी, अतः पर्याप्त काल तक सर्वसाधारण जनता कर्मकांडों में लीन रही; परंतु धीरे-धीरे कर्मकांडों का रूप विकृत हो गया, पशुबलि होने के कारण जनसाधारण कर्मकांडों से घृणा करने लगा। उपनिषदों में कर्मकांड और यज्ञ आदि के विरुद्ध आवाज उठने लगी और तत्व-चिंतन तथा ज्ञान को विशेष महत्व दिया जाने लगा। गुप्त-काल में एक नवीन विचारधारा का उदय हुआ जिसके अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए कर्म और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति-मार्ग सर्वोत्तम समझा गया। सर्वसाधारण के लिए ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करना सरल कार्य नहीं है, अतः यह माना जाने लगा कि भगवान की उपासना और भक्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति करना उचित है; परंतु इसका मतलब यहनहीं कि भक्ति-आंदोलन का उदय गुप्त काल में ही हुआ था। भक्ति-मत का उदय गुप्त-काल से पहले हो चुका था, परंतु बीच में इसकी परंपरा कुछ क्षीण हो गई थी, जो गुप्त-काल में जाकर पुनः फलने-फूलने लगी। एक विद्वान के शब्दों में, ''उन लोगों ने, जिनके पास अध्यात्म मार्ग के गहन चिंतन और मनन के द्वारा अपने विचारों को सुधारने के लिए न तो समय था और न ही अवसर, उन्होंने उपासना के सिद्धांतों और प्रतिरूपों (मूर्तियों) को अपना लिया।'' आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुमारिल भट्ट ने कर्मकांड पर विशेष बल दिया, परंतु उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी; तत्पश्चात् शंकराचार्य ने ज्ञान को मोक्ष का प्रमुख साधन बताया और

सर्वसाधारण को ज्ञान प्राप्त करने पर विशेष बल दिया। शंकराचार्य का दर्शन यद्यपि प्रभावशाली था; परंतु वह जनसाधारण की समझ में सरलता से नहीं आता था, अतः वह नीरस ज्ञात होता था। पुनः उत्तरी भारत की जनता रामानंद के नेतृत्व में तथा दक्षिणी भारत की रामानुज के नेतृत्व में भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होने लगी। क्योंकि केवल यही एक मार्ग था, जिसको अपनाकर सरलता से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता था।

4.3.4. भक्ति-आंदोलन के उदय के कारण

1. भक्ति आंदोलन के उदय का कारण ब्राह्मणवाद का जटिल होना

भक्ति आंदोलन के उदय के कारणों पर प्रकाश डालते हुए विद्वान डॉ. यूसुफ हुसैन लिखते हैं,''ब्राह्मणवाद मूलरूप से एक बौद्धिक सिद्धांत बनकर रह गया था। यह हृदय में अधिकारों की अपेक्षा करता था। मौलिक सिद्धांत, जिनकी वह 'वाद' शिक्षा देता था, अवैयक्तिक और काल्पनिक थे। ये उन लोगों की समझ में नहीं आते थे, जो सदैव एक नैतिक और भावयुक्त सिद्धांत एवं धर्म की खोज में थे, जिसके द्वारा हृदय की संतुष्टि और नैतिक शिक्षण संभव हो। इन्हीं परिस्थितियों में भक्तिप्रेम मिश्रित ईश्वर भजन के आंदोलन ने एक अनुकूल वातावरण पाया।''

2. मंदिर और मूर्तियों का विनाश

मध्यकाल में मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिंदुओं के मंदिरों और मूर्तियों का विनाश कर दिया था। ऐसी दशा में वे स्वतंत्रतापूर्वक मंदिरों में जाकर मूर्ति पूजा नहीं कर सकते थे। अतः वे भक्ति और उपासना के माध्यम से ही मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करने लगे।

3. जाति-व्यवस्था का जटिल होना

मध्यकाल में जाति व्यवस्था का स्वरूप जटिल हो चुका था। उच्च जातियाँ अपने को श्रेष्ठ समझकर निम्न जातियों पर अत्याचार करती थीं। अतः निम्न जातियों में असंतोष था। भक्ति मार्ग ने सबके लिए मार्ग खोल दिया। इस आंदोलन के संचालक ऊँच-नीच की भावना के विरुद्ध थे। इस प्रकार भक्ति मार्ग ने अछूतों और निम्न वर्ग के व्यक्तियों के लिए भी मार्ग खोला।

4. मुसलमानों के अत्याचार

डॉ. ईश्वरीप्रसाद के शब्दों में,''भक्ति काल के उदय होने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिंदुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिंदू निराश होकर उस दीनरक्षक भगवान से प्रार्थना करने लगे।'' मध्यकाल में छोटे से लेकर बड़े तक सभी मुस्लिम अधिकारी हिंदुओं पर अत्याचार करते थे। इस अत्याचार से पीड़ित हिंदू भगवान की भक्ति में लीन हो गए।

5. ईसाई धर्म का प्रभाव

कुछ विदेशी विद्वानों के अनुसार भक्ति आंदोलन के उदय का कारण ईसाई धर्म का प्रभाव है। वेबर के अनुसार– ''भक्ति आध्यात्मिक चरम मोक्ष के साधन और उसके लिए एक शर्त के रूप में एक विदेशी विचार था, जो भारत में ईसाई धर्म के साथ आया और जिसने पुराणों और महाकाव्ययुगीन हिंदू धर्म पर एक गहरा प्रभाव डाला।'' परंतु डॉ. यूसुफ हुसैन वेबर के इस कथन का खंडन करते हैं उनके अनुसार, दक्षिण में कुछ ईसाई अवश्य वास करते थे, परंतु वे इतने प्रभावशाली नहीं थे कि उनका प्रभाव हिंदू धर्म पर पड़ता। बर्थ और सीनर्ट भी वेबर के मत का खंडन करते हैं।

6. पलायनवाद की भावना

हिंदुओं की प्रगति के मार्ग मुस्लिम शासन में अवरूद्ध हो गए थे अतः वे ईश्वर में लीन होने का प्रयास करने लगे जैसा कि डॉ. विद्याधर महाजन लिखते हैं,''भक्ति आंदोलन ने उस भावना का प्रतिनिधित्व किया, जिसे पलायनवाद का नाम दिया जा सकता है, इस समय में बहुत से हिंदुओं ने

सांसारिक जीवन में उन्नति करने के लिए कोई मार्ग न पाया और इसमें कोई आश्चर्य नहीं, कि उन्होंने स्वयं भक्ति में अपना विश्वास रखकर अपने को भूल जाना चाहा।''

7. इस्लाम का प्रभाव

कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जिनके अनुसार भक्ति-मार्ग का उदय इस्लाम के संपर्क में आने के कारण हुआ। डॉ. ताराचंद्र, डॉ. कुरैशी तथा खलीक अहमद निजामी इस मत के प्रमुख समर्थकों में से हैं। इनके अनुसार, इस्लाम जाति-पाँति का विरोध करता है, जो भक्ति आंदोलन का प्रमुख सिद्धांत था। इस्लाम के नेता भी एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे तथा मूर्ति पूजा को महत्व नहीं देते थे। भक्ति आंदोलन की सादगी भी इस्लाम से प्रभावित है; परंतु यह मत भ्रमपूर्ण है, क्योंकि भक्ति भावना के बीज हमारे देश की संस्कृति में बहुत पहले ही पड़ चुके थे।

4.3.5. मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन

4.3.5.1. नवीन परिस्थितियाँ

तुर्क शासन की स्थापना के बाद भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आरंभ हुए। सिंचाई में रहट का व्यापक रूप से प्रयोग आरंभ हुआ, जिससे नदियों कि किनारे विशेष रूप से पंजाब और दोआब के क्षेत्र में कपास और अन्य फसलों की पैदावार में बहुत वृद्धि हुई। सूत कातने के लिए तकली के स्थान पर चरखे का व्यापक प्रयोग होने लगा। इसी तरह रूई धुनने में ताँत का प्रयोग जन साधारण के लिए महत्वपूर्ण बन गया था। कपास ओटने में चरखी का भी प्रयोग शुरू हुआ। तेरहवीं सदी में करघा के प्रयोग से बुनकरों और वस्त्र उद्योग की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, कपड़े की रंगाई एवं छपाई की भी इसी बीच व्यापक उन्नति हुई। मध्य एशिया के सीधे संपर्क के कारण भारत के व्यापार का भी बहुत प्रसार हुआ। इन नई परिस्थितियों ने व्यापारियों और कारीगरों का सीधा संबंध और गहरा करने में सहयोग दिया। व्यापारी कला और संस्कृति के आदान प्रदान में भी महत्वपूर्ण संवाहक सिद्ध हुए। भारत के विभिन्न प्रदेशों के साहित्य में इस योगदान की विस्तार से चर्चा मिलती है। मध्यकाल के हिंदी साहित्य में भी छुटपुट रूप से हमें इस संबंध में अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। मुल्ला दाऊद, कबीर, नानक और सूरदास का साहित्य विशेष रूप से दृष्टव्य है। ये व्यापारी देश के अंदर ही व्यापार नहीं करते थे, बल्कि दूसरे देशो में भी जाते थे। इसके साथ भारत की कला साहित्य और संस्कृति बाहर गई और वहाँ से अनेक विचार धाराएँ और साहित्य भारत में आया। इन व्यापारियों और बंजारों के संबंध में आज भी उत्तरी भारत में असंख्य लोक कथाएँ और लोक गीत प्रचलित हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि इन घुमंतु व्यापारियों का भारत के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर कितना गहरा प्रभाव था, इन नई परिस्थितियों ने शिल्पी वर्ग को बहुत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बना दिया था। संत मत में बहुसंख्या इसी शिल्पी वर्ग की है। इसके बाद व्यापारी और किसान आते हैं।

4.3.5.2. शहरीकरण एवं केंद्रीकरण

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में शहरीकरण की लहर उत्तरी भारत में फैलने लगी थी। यहाँ का नया शासक वर्ग नगर में रहना अधिक पसंद करता था। कृषि और अन्य नए उत्पादन बढ़ने के कारण लगान बढ़ाने की माँग में भी वृद्धि हुई। यही बढ़ी हुई माँग तुर्क शासक वर्ग को उत्तराधिकार में मिली जिसे उन्होंने शासन व्यवस्था का केंद्रीकरण करके और अधिक सुव्यवस्थित किया। इस प्रकार इस शासक वर्ग को कर पहले से कहीं अधिक उपलब्ध थे, जिन्हें अधिकतर शहरों में व्यय किया जाता था। इसी प्रकार कई शिल्पों का विकास हुआ, जिनमें प्रधानत: नए ढंग का स्थापत्य कला, कागज बनाना, रूई साफ करने के नए तरीके और आतिशबाजी को लिया जा सकता है।

4.3.6. भक्ति आंदोलन का विकास

इन नई परिस्थितियों के संदर्भ में आंदोलन के परिवर्तन का भी पक्ष सार्थक रूप में विकसित होता है, जिसका सबसे शक्तिशाली चित्रण कबीर, नानक, रैदास और दादू दयाल के साहित्य में हुआ है। एक ओर आर्थिक उत्पादन में कुशलता और वृद्धि जिसके कारण किसानों और दस्तकारों में शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना की प्रखर अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरी ओर राज्यशक्ति को बढ़ती हुई माँग तथा विशेषकर राज्य कर्मचारियों के भ्रष्टाचार तथा तीसरी ओर सामाजिक अत्याचार जिसका सबसे ज्वलंत उदाहरण जाति प्रथा है सामाजिक और प्रशासनिक अत्याचार के प्रति विशेष की भावना का सबसे मर्मांतक चित्रण कबीर और नानक के साहित्य में हुआ है।

इन कवियों ने सामाजिक विद्रूपों पर तीखे आघात किए हैं, परंतु इनकी भावना नैतिकता के स्तर पर बहुत सीमा तक केंद्रित रही है। कबीर के ये उद्धरण इस प्रवृत्ति पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं–

मेड़ी महल बावड़ी छाजाई।
छागिये सब भूपति राजा।
कहे कबीर राम त्यों लाई।
धरी रही माला काँहू खाई।।

X X X X

टेड़ी पगडी टेढ़े चले लागे बीरे खान।
भाऊ भगति से काम न कछु ऐ मेरो का दीवाना।
राम विसारिवों हे अभिमानी।
कनक कामिनी महा सुंदरी पेखि पेखि सच मानी।।
लालच झूठ महामद इहि इहि विधि आँव बिहनी।।
कहि कबीर अंत की बेर आई लागो काल निदानी।।

X X X X

एके पवन एक ही प्राणी।
करो रसोई न्यारी जानी।
माँटी सू माटी ले पाती।
लागी कहो कहाँ धू छोती।।

X X X X

भक्ति काल के पथ प्रदर्शकों ने अपने काल के सभी सामाजिक वर्गों के सामने प्रश्न चिह्न लगाए, परंतु राजनैतिक संस्थाओं को स्वीकार करते हुए केवल यह नैतिक आपत्ति की कि इन संस्थाओं के संचालन अपने अधिकार और दायित्व का दुरुपयोग करते हैं और यह आशा व्यक्त की कि हर व्यक्ति पूरी ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह करेगा इसी में व्यक्ति और समाज का भला है।

भक्ति आंदोलन के पास स्थापित सामाजिक व्यवस्था के किसी विकल्प की संभावना नहीं थी। केवल उसी समाज को एक आदर्श भाव से चलाने की कल्पना थी–

जिसको तिसकी दीजिए।
सुत्रित पर उपगार।
दादू सेवत सो भले।
सिर नहिं लेवे भार।।

यदि भक्ति आंदोलन के पास समकालीन समाज व्यवस्था के विकल्प की परिकल्पना का अभाव था, तो एक वैकल्पिक समाज व्यवस्था की कल्पना का आधार उस समाज की संकटग्रस्त स्थिति में ही देखा जा सकता है। यह ऐसी संकटग्रस्त स्थिति है जिसका समाधान एक नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में ही संभव हो सकता था। ऐसी स्थितियों और उनके समाधान यूरोप के इतिहास में बहुत स्पष्ट रूप में देखे जा सकते हैं जब दास प्रथा पर आधारित समाज के संकट का समाधान सामंती समाजतंत्र में ही संभव हुआ और सामंती समाज के संकट का समाधान करने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था हुई, जिसके पश्चात् समाजवाद का उदय हुआ। भारत के इतिहास में संकट और उसके समाधान की अवस्थाएँ उतनी स्पष्ट नहीं जितनी यूरोप में रही हैं। यह होते हुए भी भारतीय इतिहास का मध्ययुग ऐसा था जिसमें कुछ परिवर्तन हो रहे थे तथा बहुत से तनाव और द्वंद्व थे फिर भी यह स्थिति नहीं थी कि समूची स्थापित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का उन्मूलन करके उसके स्थान पर नए समाज की स्थापना की जा सके। धर्म का आधार लेकर किसी नई व्यवस्था का निर्माण करना संभव नहीं हैं, सुधार की संभावना ही हो सकती है।

4.3.7. भक्ति संतों की विचारधारा

भक्तिकालीन संतों ने छोटे किसान, जुलाहे और अन्य छोटे-छोटे व्यक्तियों की तुलना ईश्वर से की है। इस तरह इन छोटे लोगों के स्तर को अपनी कल्पना में ऊँचा उठाया है। उन्होंने यह कल्पना ईश्वर और उसके दरबार के प्रतिरूप में की दादू दयाल ईश्वर को साहिब सुल्तान महाराज राव आदि संज्ञा देते हैं और उसके दरबार में दासियों, कवियों, नर्तकों, नगाड़े बजाने वालों खजाने और दूतों की उपस्थिति की कल्पना करते हैं। इस दरबार में सम्राट के दरबार के लगभग सभी कर्मचारी मौजूद रहते हैं।

कबीर दादू ईश्वर या गुरु और मानवीय संबंधों को भी उसी रूप में देखते हैं, जिसमें कि समसामयिक राजनैतिक विचारक या इतिहासकार सम्राट या प्रजा के संबंधों की कल्पना करते हैं। इस कल्पना में गुरु के प्रति व्यक्ति की पूरी निष्ठा होती है दूसरी ओर गुरु अपने शिष्यों की ओर दया और करुणा का रवैया रखता है।

भक्ति आंदोलन के उत्तर भारतीय समाज की सबसे निम्न श्रेणियों और जातियों में भक्त संतों का इतना लोकप्रिय होने के बाद भी इससे शासक वर्ग को कोई खतरा दिखाई नहीं देता था। इस आंदोलन के केंद्र में अन्याय के प्रति रोष है, किंतु विद्रोह नहीं। यदि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के भारत के स्थापित समाज का उन्मूलन करके उसके स्थान पर एक नए समाज की कल्पना संभव नहीं थी तो भी उस समाज को झिंझोड़ना अनिवार्य था। भक्ति आंदोलन के सभी नेता समाज की निम्न श्रेणियों और जातियों से संबंधित थे। कबीर बनारस का जुलाहा, नानक एक छोटा व्यापारी, पन्ना एक जाट किसान, रैदास एक चमार और बंजारा थे। इन सबने एकेश्वरवाद को अपने सुधार आंदोलन का आधार बनाया था। एकेश्वरवाद में सामाजिक समानता का संदेश निहित होता है, जिसके कारण एकेश्वरवाद समाज की उन श्रेणियों के दिल को सबसे अधिक छूता है, जिनको सामाजिक असमानता का शिकार होना पड़ता है। इसी असमानता की पीड़ा का चित्रण उन संतों की वाणी में जिन्हें स्वयं भी इसका अनुभव था, लेकिन उनका अनुभव उनके निजी अस्तित्व से कहीं अधिक व्यापक था जिस रोष के साथ इन कवियों ने वर्ण और जाति भेद का विरोध किया है उसी में इस वेदना की झलक मिलती है, लेकिन अन्य पहलुओं की भाँति जाति प्रथा का विरोध नैतिक धरातल तक ही सीमित रहा। स्पष्ट है कि जाति नैतिक धरातल पर आधारित संस्था नहीं थी, बल्कि इसकी गहरी सामाजिक और आर्थिक नींव थी जिस पर उस समाज का पूरा ढाँचा खड़ा था। मध्ययुगीन संतों के रोष की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इस प्रथा में लचक अवश्य आई। किसी

भी संस्था पर वैकल्पिक चेतना के अभाव में वैचारिक शक्तिशाली आक्रमण का निष्कर्ष यही निकलता है कि उस संस्था में आक्रमणकारी के लिए भी स्थान बन जाता है। इस बात की पुष्टि में सिख समुदाय का निर्माण और विकास एक दिलचस्प उदाहरण है।

4.3.8. भक्ति आंदोलन का नवीन दृष्टिकोण

सिख समुदाय का निर्माण और विकास भक्ति आंदोलन का मोड़ है। कबीर, रैदास और नानक के शक्तिशाली आक्रमण के फलस्वरूप व्यवस्था में एक लचीलापन आया। यह मोड़ रामचरितमानस में समकालीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र रोष या विरोध के स्थान पर उस समाज के आदर्शपूर्ण ढंग से क्रियाशील होने का आदर्श है। गोस्वामी तुलसीदास में परिवर्तन की कामना नहीं है परंतु ये सुधार अवश्य चाहते हैं। रामराज्य के रूप में एक उटोपिया अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

उत्तर की तरह दक्षिण में विदेशी आक्रमणों से उत्पन्न संकट और विदेशियों के आर्यीकरण का प्रश्न तो न था, परंतु पिछड़ी आदिम कबीलाई जातियों के सांस्कृतिकरण की समस्या कम गंभीर न थी। पुराना ब्राहाण धर्म अनन्य प्रकृति के कारण यहाँ कार्य करने में असमर्थ था। यह ऐसा कार्य था, जिसे ईश्वर की सर्व सुलभ भक्ति पर आधारित वैष्णव और शैव सक्षमता के साथ संपन्न कर सकते थे। शूद्र और निम्न जातियों को उनकी सुधरी हुई और मजबूत स्थिति तथा संख्या के अनुरूप कम से कम प्रशासनिक क्षेत्र में रियायतें व महत्व प्रदान करके उन्हें संतुष्ट करने का कार्य भी भक्ति ही कर सकती है।

कुल मिलाकर दक्षिण में भक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो रही थी जिसमें स्त्रियों सहित शूद्रों व निम्न वर्गों का, जिनका अधिकांश वैष्णव धर्म के द्वारा सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया से आदिम कबीलाई जातियों से आया होगा, को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पेरिय पुराण के अनुसार नए नारों में कुछ ब्राह्मण थे। कुछ वैल्लाल और कुछ तो आदिवासी जातियों के थे। इसी तरह अलवारों में दो शूद्र और एक निम्न पनर जातियों का था।

दूसरे उत्थानकाल में भी हम भक्ति के प्रवाह के रूप में ही पाते हैं। शैव व वैष्णव भक्त अधिकांशतया सामान्य जनता के लोग थे और उनकी अति भावमूलक भक्ति सरल धर्म की द्योतक थी, लेकिन बाद में उनकी भक्ति गीतों की सरलता भावोज्जवलता और उनकी सौंदर्य भावनाओं को पौराणिक अंधविश्वासों तथा सात्विक मताग्रहों के बीच दबा दिया गया। आलवार भक्तों के उपरांत आने वाले वैष्णव आचार्य कट्टर धार्मिक कुलों के थे और परंपरागत शास्त्रों की सब मर्यादाओं की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे।

रामानुजाचार्य और रामानंद जैसे व्यक्तित्व भी जिनकी उदारता की बहुत चर्चा की जाती है एक सीमा तक ही उदार थे। इस संबंध में विभिन्न लेखकों ने जो विचार प्रकट किए हैं उनसे प्रकट होता है कि दोनों महापुरुषों की उदारता केवल औपासनिक क्षेत्र तक सीमित थी। सच-सच कहा जाए तो रामानुज और रामानंद में जितनी उदारता थी, यह वैष्णव मत में प्राचीन काल से ही रही है। इसी संदर्भ में देखें तो दोनों आचार्यों ने जो कुछ किया वह भक्ति की उस गहरी परंपरा का अनुगमन ही था, जो मात्र कुछ औपासनिक रियातें देकर सामाजिक आचार व व्यवस्था में नितांत कट्टरता का आग्रह करती रही हैं। विचार और आचार, सिद्धांत और व्यवहार की द्वैषता हमारे धर्म एवं समाजतंत्र की पुरानी बीमारी है, जिसे साहित्यकारों और इतिहासकारों ने प्रायः रेखांकित किया है। उच्च वर्ग के इस वैचारिक और समझौतावादी रूध का एक परिणाम तो यह अवश्य दिखता है कि हिंसात्मक विद्रोह की स्थितियाँ बहुत कम उत्पन्न हुईं साथ ही दलित जनता को मामूली छूटों से ही संतोष करके युगों-युगों तक भारी मूल्य

चुकाना पडता रहा। सचमुच इस दृष्टि से भारत की प्राचीन मनीषा अन्य अनेक देशों के बुद्धिजीवियों से अधिक चतुर और व्यवहार कुशल थी।

4.3.9. भक्ति आंदोलन : जन आंदोलन?

भक्ति आंदोलन में कई तरह के रंग और विचार रहे हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था? यह सीमित अर्थो में ही जन आंदोलन था। संपूर्ण अर्थों में नहीं। यह जनता के जीवन स्तर में किसी परिवर्तन का आह्वान नहीं करता। किसी आर्थिक संरचना का उद्देश्य भी इस आंदोलन के सामने नहीं हैं। इस आंदोलन की दार्शनिक परिणति स्वयं की मुक्ति और ईश्वर से एकात्मक संबंध स्थापित करना था। गुरु की सहायता से मोक्ष प्राप्त अथवा प्रभु कृपा पर अधिक बल था। इस आंदोलन के दार्शनिक लक्ष्य भी भिन्न थे। भक्त और ईश्वर के संबंध धर्म ग्रंथों की मान्यता तथा समाज के संबंध में इनके दृष्टिकोण अलग अलग हैं। यही नहीं शासक वर्ग के प्रति भी इनकी दृष्टि एक नहीं है उनमें गहरे मतभेद हैं। हम इनके विचारों का विश्लेषण करें तो यह सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ते। जाति व्यवस्था और ब्राह्मण वर्ग पर इन्होंने चोट जरुर की, लेकिन उस ढाँचे को तोड़ने में असमर्थ रहे। क्षेत्रों के अनुसार भी इस आंदोलन की अपनी अपनी विशेषताएँ थी। यही लोकप्रिय भावनाओं को अभिव्यक्त करने का साधन बना और उसने विभिन्न वर्गों के तथा पृष्ठभूमि के स्त्री पुरुषों को निरंकुशता के विरुद्ध एकत्र और सक्रिय होने का अवसर प्रदान किया। पंजाब का उदाहरण इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय है। भक्ति आंदोलन के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, परस्पर क्षेत्रीय विभिन्नता वाले समाज, राजनैतिक और संस्कृति पर प्रभाव इसके उदय विकास में सहायक तत्वों के अध्ययन की आज भी आवश्यकता है। जब तक गंभीर अध्ययन नहीं होगा तब तक भक्ति आंदोलन के संबंध में कोई अंतिम बात नहीं कही जा सकती।

4.3.10. भक्ति आंदोलन की असफलता

वर्तमान में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मध्यकाल में पूरे देश में यह आंदोलन लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। समाज की जड़ मान्यताओं, उपासना-पद्धति आदि पर उन्होंने प्रश्न-चिह्न लगाए। समाज के उपेक्षित और पीड़ित लोगों को एक सम्मान का जीवन प्रदान करने का मार्ग भी दिखाया फिर आखिर मध्यकाल के आंदोलन कोई मूलभूत परिवर्तन करने में असमर्थ क्यों रहे? ज्ञान - विज्ञान और तकनीकी को नए रूप में ढालने में यह क्यों असमर्थ रहे? यूरोप जो भारत से कई दृष्टियों में पिछड़ा हुआ था वह यह काम करने में कैसे समर्थ हुआ, जबकि भारत औद्योगीकरण करने में क्यों असमर्थ रहा? इन कारणों पर बिना विचार किए हम अपने नवजागरण पर भी सही ढंग से विचार नहीं कर सकते हैं।

आज इन प्रश्नों का सीधा उत्तर देना संभव नहीं है, किंतु इसे भारत की जटिल सामाजिक-राजनैतिक स्थिति में खोजा जा सकता है– मध्यकाल के इतिहासकारों ने इसके उत्तर देने के प्रयास किए हैं, किंतु इस प्रश्न पर बहस अब भी जारी है। प्रो. इरफान हबीब ने जो वर्षो से इस विषय पर निरंतर लिख रहे हैं, निम्न प्रमुख कारण उल्लिखित किए हैं।

1. चिंतन और साहित्य की भाषा फारसी थी, जिसका साधारण जनता से कोई रिश्ता नहीं था, यह विशिष्ट लोगों की भाषा थी, जनता और भद्रलोक की भाषाओं में इतनी भिन्नता है कि वहाँ नए ज्ञान-विज्ञान का प्रदान मुश्किल है। इससे पूर्व संस्कृत भी जनता की भाषा नहीं थी।
2. मध्यकाल में भारत तथा इस्लामी दुनिया में दार्शनिक और स्वतंत्र चिंतकों को धर्मशास्त्रियों के मुकाबले कोई महत्व नहीं दिया जाता था। धर्मशास्त्रियों ने सदैव दर्शन और विज्ञान का जमकर

विरोध किया। इन दोनों को धर्म विरोधी बताया जाता रहा। इस संदर्भ में एक उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिए काफी होगा सूफी संत शेख निजामुद्दीन का एक वार्तालाप एक समकालीन इतिहासकार ने लिखा है– "एक बार खलीफा एक दार्शनिक के प्रभाव में आ गए। दार्शनिक खलीफा को ब्रहमांड की गति के नए नियम समझा रहा था, यह बात सूफी शहाबुद्दीन सुहरावर्दी को मालूम हुई तो उन्होंने कहा कि है दार्शनिक तुम क्यों झूठी बातें बता रहे हो, ये धरती और सितारों को तो ईश्वर के देवदूत चलाते हैं, प्रकृति और कोई अन्य शक्ति नहीं, दार्शनिक हँसकर चुप हो गए। इसके बाद खलीफा (सम्राट) ने उन विचारों को तिलांजलि दे दी और फिर से इस्लाम की शिक्षाओं पर पूर्ण विश्वास करने लगे।"

3. ज्ञान विज्ञान और चिकित्सा में शास्त्र का प्रयोग केवल शासक वर्ग तक ही सीमित रहा। ज्योतिष शास्त्र का प्रयोग मक्का की शिक्षा और नमाज का समय जानने के लिए ही होता था।
4. कट्टर धार्मिक लोग जिनका शासक वर्ग पर बहुत प्रभाव रहा है। यह विज्ञान, तर्कशास्त्र और दर्शन को धर्मविरोधी मानते थे। हर नया विचार यदि धर्म शास्त्र की कसौटी पर कसा जाएगा तो कभी नए विचार को पनपने का अवसर नहीं मिलेगा। भारत में ऐसा ही हुआ यहाँ के शासक वर्ग ने सदैव धर्मशास्त्र अथवा दूसरी व्याख्याओं को ही सदैव महत्व दिया। इससे विज्ञान तकनीक और तर्कशास्त्र का एक सीमा से अधिक विकास संभव नहीं हुआ। यही नहीं भारत के पुराने विज्ञान गणित और तर्कशास्त्र पर भी मध्यकाल में कोई विशेष काम नहीं हुआ। अलबरूनी ने भारतीय विज्ञान पर भी 11वीं शताब्दी में एक पुस्तक अवश्य लिखी थी, परंतु बाद में इस दिशा में कोई काम नहीं हुआ।

मध्यकाल के सुप्रसिद्ध विज्ञान और इतिहासकार अबुल फ़ज़ल ने भारत में वैज्ञानिक चेतना पर अपनी महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा था, परंपरा की तेज हवा ने ज्ञान के दीपक को सदैव मद्धिम रखा। किसी संबंध में क्यों और कैसे का प्रश्न नहीं हो सकता। तर्क करना व्यर्थ है। जाँच पड़ताल का कार्य कुफ्र की सीमा में आ जाता है। बस जो हमें पिता, अध्यापक, रिश्तेदार, मित्र और पड़ोसियों से मिलता है वही ईश्वर कृपा समझकर ग्रहण कर लिया जाता है। जो परंपरा के विचारों के विपरीत मत रखते हैं वे अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते। हालाँकि कुछ विद्वानों ने अलग मार्ग पर चलने का प्रयास किया, लेकिन इस सत्य के पथ पर वे आधे मार्ग से अधिक कभी नहीं बढे।

सूफी संतों ने आरंभ में जड़ परंपराओं का काफी विरोध करके मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया इनका भारत में एक समय बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। कठमुल्लापन का उन्होंने विरोध किया लेकिन धीरे-धीरे धर्मशास्त्रियों और सूफियों के बीच विशेष मतांतर नहीं रहा दोनों विचारधाराओं के लोगों में एक मूक समझौता हो गया। अनेक ऐसे अनुयायी थे जो एक साथ कठमुल्ला धर्मशास्त्रियों को तथा सूफी संतों को समान रूप से प्रिय थे। प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नी का नाम इस संदर्भ में विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि भारत में धर्म की परंपरागत परिभाषाओं से अलग विचारों की जो एक हवा चली थी, वह धीरे-धीरे मंद पड़ती गई। इसके पश्चात् सूफीवाद वैचारिक रहस्यवाद की टेड़ी मेड़ी पगडंडियों की ओर अग्रसर होता गया। इस प्रकार वैचारिक संघर्ष और विचारों की द्वंद्वात्मकता से उत्पन्न नई विचारधाराओं की संभावना नहीं पनप सकी। इसके साथ ही ''अहं ब्रह्मास्मि'' की भावना भी सूफी संतों में पैदा होती गई। फलतः सामाजिक और धार्मिक उदारता पर आधारित सूफीवाद भी धार्मिक कठमुल्लापन और परंपरावाद में जड़ पकड़ गया। शेख अहमद सरहिंदी का उदाहरण इसी प्रवृति का द्योतक है। इसी प्रकार प्रचलित सूफी उदारता की धारणा के विपरीत शेख निजामुद्दीन जो अपने युग के अत्यंत प्रतिष्ठित सूफी संत थे वे भी गैर मुसलमानों का स्वर्ग में प्रवेश वर्जित मानते थे।

सूफियों की भाँति पंथवादियों का भी एक सीमा तक तर्कसंगत आधार नहीं हैं। पंथवादियोंने विवेकशीलता तथा तार्किकता को बहुत महत्व नहीं दिया। एक सीमा के बाद विभिन्न पंथवादी पुराने विचारों का ही मंथन करते रहे। एकेश्वरवादियों ने तत्कालीन समाज की बुराइयों पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए समाज को चुनौती देने का जो साहसिक प्रयास किया वह आगे चलकर पंथवाद की परंपरा में धूमिल हो गया। इस प्रकार वैज्ञानिक चिंतन के माध्यम के नए समाज की संरचना के विचार को बहुत धक्का लगा। एकेश्वरवाद की पंथवाद में परिणति, समाज के अंतर्विरोधियों से एक सीमा के संघर्ष के स्थान पर समझौतापरस्ती के कारण हुई।

अकबर अत्यंत उदार सम्राट थे। उन्होंने सुलह-कुल का सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसका अर्थ था हर वर्ग के अच्छे मूल्यों की एकता, सहनशीलता तथा विभिन्नता की स्वीकृति, लेकिन यहाँ भी सम्राट को ईश्वर के समकक्ष मानने की शर्त थी। उसे आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य था सुलह कुल का प्रभाव समाज के विभिन्न धार्मिक समुदायों पर तो अवश्य पड़ा। विभिन्न समुदायों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता की भावना को बढ़ाने के लिए भी यह दर्शन सार्थक था, लेकिन सुलह कुल भी किसी प्रकार की कोई नई वैज्ञानिक और तर्कसंगत विचारधारा प्रतिपादित नहीं कर सकता था। कारण सुलह कुल भी धार्मिक ढाँचे में यथास्थितिवाद का समर्थन करते हुए केवल धार्मिक और सामाजिक संबंधों में सुधारवाद एक ही रूप था।

अबुल फ़ज़ल ने तार्किकता और विज्ञान की बात की तो उसका भारी विरोध हुआ उदाहरण स्वरूप अबुल फ़ज़ल ने गणित, कृषि, विज्ञान, बागवानी, सर्वेक्षण, ज्यामिति गणित, खगोल शास्त्र, वास्तुकला, चिकित्सा शास्त्र, इतिहास आदि को शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने पर जोर दिया। भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान और दर्शन को भी शिक्षा में शामिल करना चाहिए, यह अबुल फ़ज़ल का मत था। इसके लिए उन्होंने संस्कृत ग्रंथों का व्यापक रूप से अनुवाद कराया। इसका भारी विरोध हुआ और शेख अहमद सरहिंदी के नेतृव में कट्टरपंथियों ने उपरोक्त शैक्षिक पाठ्यक्रम को मान्यता दी। यह तथ्य अत्यंत दिलचस्प है कि इस समय में यूरोप के लोगों का आवागमन काफी बड़ी संख्या में शुरू हो गया था। इसके बावजूद यूरोपीय यात्रियों से विचार विमर्श धर्म और दर्शन तक ही सीमित थे, विज्ञान और तकनीकी पर अधिक बातचीत नहीं होती थी। अकबर के दरबार में कई यूरोपीय मिशनरी आए। अबुल फ़ज़ल ने सम्राट अकबर की ओर से इन मिशनरियों को पत्र लिख कर आमंत्रित किया तथा यह आमंत्रण भी केवल धार्मिक मामलों पर विचार विमर्श के लिए ही था।

मध्यकाल में एक प्रवृत्ति और भी थी कि साधारण लोगों को किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। बुद्धिजीवी विशिष्ट वर्ग में साधारण जन का प्रवेश निषिद्ध था। शाह वलीउल्लाह ने तो यहाँ तक कहा कि शरीअत के कानून तक साधारण लोगों की पहुँच नहीं होनी चाहिए। इससे अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा एक विशिष्ट वर्ग तक ही सदैव सीमित रही। इससे साधारण वर्ग से बुद्धिजीवी और चिंतक विचारक वर्ग में रूपांतरण नहीं के बराबर हुआ और समाज अनेक नए विचारों की संभावनाओं से वंचित रहा। इसके विपरीत यूरोप में मध्यकाल तथा आधुनिक काल में एक बड़ी संख्या में किसानों की शिक्षा हुई। इस नए शिक्षक वर्ग द्वारा की गई विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र की क्रांति ही सामाजिक संरचना के परिवर्तन का एक प्रमुख कारण बनी। भारत में ऐसा कोई वैज्ञानिक अथवा तकनीकी उन्नति का आधार नहीं बन पाया क्योंकि यहाँ सभी परिवर्तनकारी प्रवृत्तियाँ केवल चंद सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों तक ही सीमित रही तथा शिक्षा विशिष्ट वर्ग की शोभा की वस्तु बन कर रह गई।

4.3.11. भक्ति आंदोलन के प्रमुख संत

4.3.11.1. रामानंद

रामानंद का जन्म 14वीं शताब्दी में प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पुण्यसदन था। रामानंद अत्यंत कुशाग्र बुद्धि के थे। अपने बाल्यकाल में ही उन्होंने अनेक ग्रंथों को रट लिया था। प्रयाग और बनारस में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी तथा विजयनगर, रामेश्वर, कांची, श्रीरंगम, जनार्दन, मथुरा, वृंदावन, चित्रकूट आदि स्थानों की यात्रा की। अल्प आयु में ही वे रामानुज संप्रदाय में दीक्षित हो गए थे तथा अपनी प्रबल मेधा के बल पर वे धर्म प्रचारक के पद पर आसीन हो गए। 'अगस्त-संहिता' के अनुसार काशी में 1410 ई. में उनकी मृत्यु हो गई।

उत्तरी भारत में इस आंदोलन में प्राण फूँकने का श्रेय रामानंद को मिलता है। एक विद्वान के शब्दों में, ''दक्षिण में अलवार संतों में भक्ति का बहुत कुछ विकास हो चुका था और वहीं से भक्ति की लहर उत्तर भारत में पहुँची। इस भक्ति की लहर को उत्तर में लाने वाले रामानंद का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि इनके शिष्य सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के उपासक थे। वस्तुतः उत्तर भारत में भक्ति के महान आंदोलन को चलाने का श्रेय रामानंद को है।''

4.3.11.2. रामानुज

रामानुज का जन्म आधुनिक आंध्र के त्रिपुरी नामक स्थान पर, लगभग 12वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। ये दक्षिण के एक महान वैष्णव प्रचारक थे। प्रारंभ में शंकराचार्य के प्रभाव में रहे, लेकिन कुछ काल पश्चात् ही शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा मायावाद का उन्होंने खंडन किया तथा भक्ति और प्रेम-भावना पर विशेष बल दिया। उनका विचार था कि बिना मन की एकाग्रता तथा भक्ति के मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है। रामानुज के अनुसार, एक शूद्र तथा अंत्यज भी भक्ति और प्रेम के माध्यम द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। उन्होंने शूद्रों को एक निश्चित दिवस पर मंदिर प्रवेश की आज्ञा दे दी। यह सत्य है कि रामानुज वर्ण व्यवस्था के विरोधी नहीं थे और उन्होंने शूद्रों को अपना शिष्य नहीं बनाया; परंतु उनके हृदय में उदारता थी जिसकी प्रेरणा से उन्होंने शूद्रों और अंत्यज्ञों के लिए आत्म-समर्पण (प्रपत्ति) का विधान निश्चित किया।

4.3.11.3. माध्वाचार्य

माध्वाचार्य का जन्म 12वीं शताब्दी के लगभग हुआ था। वे शंकराचार्य के दर्शन के विरोधी थे। उन पर भागवत-दर्शन का विशेष प्रभाव था। देश के विभिन्न भागों में घूम-घूम कर उन्होंने शास्त्रार्थ किया। अनेक विद्वान इनके अकाट्य तर्कों के आगे परास्त हो गए। 'गीताभाष्य' में इनकी प्रतिभा के विशेष दर्शन होते हैं। माध्वाचार्य के अनुसार,''सुख-दुखों की स्थिति कर्मानुसार होने से भगवान को न भूलो तथा दुःख - काल में भी उसकी निंदा न करो। वेद शास्त्र-सम्मत कर्म-मार्ग पर अटल रहो। कोई भी धर्म करते समय बड़े दीन भाव से भगवान का स्मरण करो। भगवान ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत के माता-पिता हैं। इसलिए अपने सारे कर्म उन्हीं को अर्पण करने चाहिए।''

4.3.11.4. बल्लभाचार्य

दक्षिण के प्रमुख संतों में बल्लभाचार्य का नाम आता है। आपका जन्म सन् 1479 के लगभग हुआ था। ये बुद्धि के बड़े कुशाग्र थे। 13 वर्ष की आयु में वेद, पुराण तथा विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। ये शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध थे। उनके अनुसार, जीव उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। इन्होंने तत्कालीन समाज को श्रीकृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया। बल्लभाचार्य का मत था कि इस संसार में

शांति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को भगवान की भक्ति में अवश्य लीन रहना चाहिए। भगवान कृष्ण ही ब्रह्म हैं, उनकी सेवा करना ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। सांसारिक मोह-ममता को छोड़कर अपना सर्वस्व भगवान कृष्ण के चरणों में अर्पित कर देना चाहिए। वल्लभाचार्य के जीवन के अधिकांश दिन ब्रज में ही व्यतीत हुए।

4.3.11.5. रैदास

ये कबीर के समकालीन थे। रामानंद के प्रमुख शिष्यों में इनका भी नाम आता है निर्गुण भक्ति में इनकी अटूट श्रद्धा थी। इन्होंने ईश्वर के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण का उपदेश दिया। मानव समानता इनका प्रमुख सिद्धांत था। यह जाति के चमार थे। इनके अनुसार, संसार के समस्त प्राणी ईश्वर की दृष्टि में समान हैं, अतः मानवकृत भेदभाव कोई महत्व नहीं रखते। उनकी ओजपूर्ण वाणी तथा भक्ति भावना से लोग अत्यधिक प्रभावित हुए और ब्राह्मण तक श्रद्धा से उनके आगे सिर झुकाने लगे। रैदास वास्तव में प्रेम और वैराग्य की मूर्ति थे। उनके नाम पर ''रैदासी संप्रदाय'' का सूत्रपात हुआ।

4.3.11.6. नानक

नानक का जन्म 1469 ई. में तालवण्डी नामक गाँव में हुआ था। तालवण्डी का वर्तमान नाम 'ननकाना' है। यह लाहौर से 35 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। नानक ने प्रारंभिक शिक्षा पाठशाला में पाई थी, परंतु वे बचपन से ही चिंतनशील थे। प्रारंभ से ही वे शिक्षा के प्रति उदासीन थे तथा पाँच वर्ष की आयु से ही वे जीवन के उद्देश्य के बारे में प्रश्न करने लगे। जब वे बारह वर्ष के थे तभी उनके पिता ने उनका विवाह एक खत्री कन्या से कर दिया। कुछ काल तक वे अपने श्वसुर के साथ काम करते रहे, परंतु उनका वहाँ मन नहीं लगा और वे भजन कीर्तन में लीन रहने लगे। जब उनकी आयु केवल 29 वर्ष की थी तब उन्हें एक रहस्यानुभूति हुई और वे नौकरी छोड़कर सर्वसाधारण को उपदेश देने लगे। उनके समस्त कार्यक्रम की प्रमुख घोषणा थी ''न कोई हिंदू है और न कोई मुसलमान'' कबीर के विपरीत नानक एक सुशिक्षित संत थे। पंजाबी के अतिरिक्त उन्होंने हिंदी और फारसी का भी ज्ञान प्राप्त किया था। संपूर्ण भारत का भ्रण करने के पश्चात् वे मध्य एशिया के कुछ देशों तथा अरब भी गए।

4.3.11.7. चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु का जन्म सन् 1485 में बंगाल में हुआ था। भक्ति-आंदोलन के महान प्रवर्तकों में चैतन्य का नाम सबसे ऊपर आता है। इनके पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम शचीदेवी था। चैतन्य गौर वर्ण के थे, अतः इन्हें गौरांग कहकर भी लोग पुकारते थे। संन्यास ग्रहण करने पर ये चैतन्य कहलाए। इन्होंने नवद्वीप के विख्यात पंडित गंगादास की पाठशाला में व्याकरण तथा न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। 9 वर्ष की आयु में इनका उपनयन संस्कार हुआ। 14 वर्ष की आयु में चैतन्य ने कलाप-व्याकरण की टीका लिखी। नवद्वीप में न्याय-शास्त्र की एक पाठशाला भी खोली। इस पाठशाला की प्रसिद्धि शीघ्र ही चारों ओर फैल गई। दूर-दूर से छात्र ज्ञानार्जन के लिए आने लगे।

4.3.11.8. संत कबीर

भक्तिकालीन संतों में कबीर का नाम सबसे ऊपर आता है। कबीर एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुए थे। ब्राह्मणी ने लज्जा के कारण बनारस के तालाब के पास इन्हें डाल दिया। एक मुसलमान जुलाहे ने उठाकर अपने पास रख लिया था और बड़े लाड़-प्यार से इनका लालन-पालन किया। अधिकांश विद्वानों के अनुसार इनका जन्म सन् 1440 के लगभग हुआ था। बड़े होने पर वे रामानंद के शिष्य हो गए। इस विषय में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ''काशी हम प्रगट भये, रामानन्द चेताये।'' कुछ विद्वान शेख तकी को इनका गुरु मानते हैं, परंतु इस कथन के ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। प्रायः विद्वान

रामानंद को ही कबीर का गुरु मानते हैं। इस पर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने जीवन के आरंभिक दिवसों में वे बनारस के संत गोसाई अष्टानंद की शिक्षाओं से अत्यधिक प्रभावित थे।

वास्तव में किवदंतियों और परंपरागत वृत्तांतों के अतिरिक्त कबीर के जीवन पर कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त होता। उनके विषय में सर्वप्रथम उल्लेख गुरु नानक की ''जन्म-साखी'' में आया है। कबीर के विषय में विस्तृत वृत्तांत 17वीं शताब्दी में, मुगल इतिहासकार मुहसिन फानी ने दिया है। उसने अपने ग्रंथ में कुछ प्राचीन परंपराओं का भी उल्लेख किया है, उसका यह उद्धरण उल्लेखनीय है : यह कहा जाता है कि ब्राह्मण विद्वानों का एक दल गंगा तट पर बैठा हुआ उस पवित्र नदी के जल की स्तुति कर रहा था, जो पापों को धो देता है। बातचीत के बीच में, उनमें से एक को प्यास लगी। कबीर अपनी जगह से उठा और अपने पास के एक लकड़ी के प्याले में जल भर कर उस ब्राह्मण के पास ले गया। कबीर के जुलाहा और निम्न वर्ण का आदमी होने के कारण उसने जल को स्वीकार नहीं किया गया। कबीर ने कहा, ''तुमने घोषणा की थी कि गंगाजल आत्मा और शरीर दोनों को हर प्रकार के पापों से नष्ट कर देता है, किंतु जब यह प्याले को भी पवित्र करने योग्य नहीं है तो यह जल भी तुम्हारी प्रशंसा का पात्र नहीं है।'' मुहसिन फानी आगे लिखते हैं, ''एक दूसरे दिन कबीर एक मालिन को देख रहा था, जो एक मूर्ति पर चढ़ाने के लिए फूलों को जमा कर रही थी। उसने (कबीर ने) उससे कहा, फूलों की पंखुड़ियों में वनस्पति की आत्मा होती है। जिस मूर्ति को तुम पुष्प चढ़ाने जा रही हो, उसमें न तो प्राण हैं और न ही अनुभव। वनस्पति इससे कहीं बढ़-चढ़कर है। यदि मूर्ति में चेतना होती तो वह मूर्तिकार को दंडित करती, जिसे तराशते समय उसे उसकी छाती पर पैर रखने पड़ते थे। जाओ, उसकी पूजा करो जो बुद्धिमान, कुशाग्रबुद्धि और परिपूर्ण है।''

4.3.11.9. मीराबाई

मीराबाई का नाम भक्तिकालीन संतों में विशेष श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनके पिता का नाम रतनसिंह राठौर था। वे बचपन से ही भगवान कृष्ण की भक्ति की ओर झुकी हुई थीं। बाल्यकाल से ही इन्होंने स्वयं पदरचना आरंभ कर दी थी। बड़े होने परमीरा का विवाह चित्तौड़ के सिसोदिया वंश के कुमार भोजराज के साथ हुआ। विवाह के पश्चात् भी मीरा की भक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। मीराबाई की तरुण अवस्था में ही भोजराज का देहावसान हो गया। पति के मृत्यु के पश्चात् मीराबाई ने अपना संपूर्ण ध्यान भगवान कृष्ण की भक्ति में लगा दिया। भक्त के रूप में मीराबाई का नाम दूर-दूर तक फैल गया। वे अपना अधिकांश समय भगवान की भक्ति पूजा तथा साधु-संगति में लगाने लगी। कभी वे विरह से व्याकुल होकर रोने लगती तो कभी भगवान के प्रेम में आकर नाचने लगतीं। अनेक दिन तक वे बिना खाए-पिए कृष्ण के आगे समाधि लगाए पड़ी रहतीं।

मीरा ने अपने जीवनकाल में अनेक मधुरतम गेय-पद लिखे। ये पद भगवान कृष्ण की भक्ति के रस में डूबे हुए हैं। इन पदों के कारण ही मीराबाई का नाम अमर हो गया। पदों की भाषा ब्रज तथा राजस्थानी दोनों है। कुछ पद गुजराती भाषा में भी लिखे गए हैं। भगवान कृष्ण को संबोधित किए गए गीत अपनी मधुरता और सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं।

4.3.11.10. तुलसीदास

कबीर के समान तुलसीदास भक्तिकालीन संतों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनकी जन्मतिथि के विषय में विद्वानों में मतभेद है। जॉर्ज ग्रियर्सन इनकी जन्मतिथि 1589 वि.सं. मानते हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त का भी यही मत है। विल्सन ने तुलसीदास की जन्म-तिथि संवत् 1600 वि. सं. मानी है, जो निराधार है। डॉ. आशीर्वादीलाल ने यह तिथि 1532 ई. के लगभग मानी है।

परंपराओं के आधार पर यह कहा जाता है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था तथा माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली के साथ हुआ था। तुलसी अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। एक दिन पत्नी द्वारा तिरस्कृत तथा व्यंगात्मक शब्दों का प्रयोग किए जाने पर गहरा आघात लगा और उनका वासनामय प्रेम वैराग्य और राम की भक्ति में बदल गया। 42 वर्ष की आयु में लगभग 1574 ई. में इन्होंने 'रामचरितमानस' का प्रारंभ किया तथा दो वर्ष और सात महीने में इसे समाप्त कर दिया।

4.3.11. सारांश

भक्ति आंदोलन तेरहवीं-चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दियों में हुए महत्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के कारण विकसित हुआ जो कबीर, नानक और रविदास की कविताओं में अपने चरमोत्कर्ष पर मिलता है। संभवतः यह आंदोलन नए भौतिक परिवर्तनों की देन है। तुर्क शासन की स्थापना के बाद भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आरंभ हुए। इन नई परिस्थितियों ने व्यापारियों और कारीगरों का सीधा संबंध और गहरा करने में सहयोग दिया।

इन नई परिस्थितियों के संदर्भ में आंदोलन के परिवर्तन का भी पक्ष सार्थक रूप में विकसित होता है जिसका सबसे शक्तिशाली चित्रण कबीर, नानक, रैदास और दादू दयाल के साहित्य में हुआ है। भारतीयों का आदिकाल से जीवन का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना रहा है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रमुख रूप से तीन साधन बताए गए हैं - कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, और भक्ति-मार्ग। उक्त में केवल भक्ति मार्ग ही एक मार्ग था जिसको अपनाकर सरलता से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता था।

भक्ति-आंदोलन के उदय के कारण - 1. भक्ति आंदोलन के उदय का कारण ब्राह्मणवाद का जटिल होना 2. मंदिर और मूर्तियों का विनाश 3. जाति-व्यवस्था का जटिल होना 4. मुसलमानों के अत्याचार 5. ईसाई धर्म का प्रभाव 6. पलायनवाद की भावना 7. इस्लाम का प्रभाव

भक्ति-आंदोलन के प्रमुख संत - 1. रामानंद 2. रामानुज 3. माध्वाचार्य 4. बल्लभाचार्य 5. रैदास 6. नानक 7. चैतन्य महाप्रभु 8. संत कबीर 9. मीराबाई 10. तुलसीदास

4.3.12. बोध प्रश्न

4.3.1.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रामानंद पर टिप्पणी लिखिए।
2. रामानुज पर एक लघु लेख लिखिए।
3. माध्वाचार्य पर प्रकाश डालिए।
4. बल्लभाचार्य पर टिप्पणी लिखिए।
5. रैदास पर प्रकाश डालिए।
6. नानक को क्यों महत्वपूर्ण माना जाता है?
7. चैतन्य महाप्रभु का परिचय दीजिए।
8. संत कबीर को क्यों महत्वपूर्ण माना जाता है?
9. मीराबाई के विषय में आप क्या जानते हैं?
10. तुलसीदास पर टिप्पणी लिखिए।
11. भक्ति आंदोलन से आप क्या समझते हैं?
12. भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

4.3.12.1. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सोलहवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
2. ''मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन हिंदू समाज और इस्लामी संस्कृति और दृष्टिकोण का प्रथम प्रभावपूर्ण संघात व्यक्त करता है।'' क्या आप इस कथन से सहमत हैं?
3. भारत के प्रमुख संतों का विवरण दीजिए। उन्होंने किस प्रकार हिंदू मुस्लिम संस्कृति को शिक्षित किया।
4. भारत में भक्ति आंदोलन की असफलता के कारणों का वर्णन कीजिए।
5. 12वीं एवं 13वीं सदी में हुए परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।
6. भक्ति आंदोलन के विकास का वर्णन कीजिए।
7. संत कबीर और मीराबाई के कार्यों की विवेचना कीजिए।
8. भारत में भक्ति आंदोलन के लिए कौन से कारण उत्तरदायी हैं? विस्तार से समझाइए।
9. नानक और तुलसीदास के योगदान की विवेचना कीजिए।
10. भक्ति आंदोलन पर एक निबंध लिखिए।

4.3.13. संदर्भ ग्रंथ

1. इरफान हबीब - एवीडेन्स फार सिक्सटीन्थ सेन्चुरी एग्रेरियन कंडीशन्स इन दि गुरु ग्रंथ साहिब, 1961
2. इरफान हबीब - प्रेसीडेंशियल एड्रेस, हिस्ट्री काँग्रेस, 1969
3. श्याम सुन्दर दास - कबीर ग्रंथावली; (संपा.) वाराणसी, 1975
4. परशुराम चतुर्वेदी - दादू दयाल ग्रंथावली(संपा)
5. हरवंश मुखिया- मार्क्स आन प्रीकोलोनियल इंडिया, 1979
6. इरफान हबीब - 15-17 वीं शताब्दी के एकेश्वरवाद के आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
7. लक्ष्मीनारायण वर्मा - भक्ति आंदोलन की सामाजेतिहासिक पीठिका, कानपुर
8. डॉ. यदुवंशी - शैवमत, पटना, 1955
9. डॉ. एस.एन.दास - भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-3, जयपुर, 1974
10. के. दामोदरन - भारतीय चिंतन परंपरा, नई दिल्ली
11. पीतंबर दत्त बड़थ्वाल - हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, लखनऊ, 1968
12. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - कबीर ; हिंदी साहित्य की भूमिका, नई दिल्ली, 1979
13. प्रो. नामवर सिंह - दूसरी परंपरा की खोज, नई दिल्ली, 1982
14. सतीश चन्द्र - उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का उदय: पृष्ठभूमि, आलोचना अंक 76, दिल्ली मार्च, 1916
15. लतीफ मलिक - फला-इ-दुल-फु-आद, संपा., लाहौर 1966 यह वार्तालाप सन् 1310-1317 के बीच का है।
16. अतहर अब्बास रिजवी - मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेन्ट इन नार्दर्न इंडिया 16-17वीं, आगरा, 1965

खंड-4 : सल्तनत काल

इकाई-4 : सूफी आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

4.4.1. उदेश्य
4.4.2. प्रस्तावना
4.4.3. सूफी मत की विशेषताएँ
4.4.4. मुस्लिम देशों में सूफी आंदोलन का विकास
4.4.4.1. आरंभिक चरण (10वीं शताब्दी तक)
4.4.4.2. संगठित सूफी आंदोलन का विकास(10वीं-12वीं शताब्दी)
4.4.4.3. सूफी संप्रदायों या सिलसिलों की स्थापना (12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध 13वीं शताब्दी)
4.4.5. भारत में सूफी मत का विकास
4.4.6. भारत में सल्तनत काल के सूफी सिलसिले
4.4.6.1. सुहरावर्दी सिलसिला
4.4.6.2. चिश्ती सिलसिला
4.4.6.3. अन्य सूफी सिलसिला
4.4.7. चिश्ती सिलसिले की लोकप्रियता का कारण
4.4.8. सूफियों की सामाजिक भूमिका
4.4.8.1. सूफी और राज्य
4.4.8.2. सूफी और उलेमा
4.4.8.3. सूफी और धर्म परिवर्तन
4.4.8.4. खनकाहों में भौतिक जीवन
4.4.9. भारतीय सूफी मत पर समकालीन मुस्लिम देशों के रहस्यवादी विचारों का प्रभाव
4.4.10. सूफी और शक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय
4.4.11. सारांश
4.4.12. शब्दावली
4.4.13. बोध प्रश्न
4.4.14. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.4.1. उद्देश्य

इस इकाई में हम मध्यकालीन भारत के सूफी आंदोलन और विचारों पर विस्तार से चर्चा करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :–

1. सूफी मत की विशिष्टताओं का उल्लेख कर सकेंगे।
2. इस्लामी देशों में सूफी मत के उदय पर प्रकाश डाल सकेंगे।

3. दिल्ली सल्तनत के दौरान भारत में इसके विकास को रेखांकित कर सकेंगे।
4. इस काल में भारत में पनपे विभिन्न सूफी सिलसिलों का वर्णन कर सकेंगे।
5. भारत में चिश्ती सिलसिले की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
6. समकालीन भारतीय समाज पर सूफी मत के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

4.4.2. प्रस्तावना

इस्लाम धर्म में विभिन्न रहस्यात्मक प्रवृत्तियों और आंदोलनों को सूफीमत या तसव्वुफ के नाम से जाना जाता है। इस्लाम में व्यक्तिगत अनुभव से पवित्रता आधारित रहस्यवादिता के माध्यम से ईश्वर और व्यक्ति के बीच सीधा संपर्क स्थापित करने के बात की जाती है। प्रत्येक धर्म अपने विकास के क्रम में कभी-न-कभी इस रहस्यवाद का सहारा अवश्य लेता है। इस दृष्टि से सूफी मत कुरान की पवित्रता की भावना पर आधारित इस्लाम का स्वाभाविक विकास है। सूफी संत शरीयत को स्वीकार करते थे, पर वे परंपरा से चली आई आराधना पद्धति में बँधकर नहीं रहे, बल्कि उन्होंने ऐसी पद्धति विकसित की, जिसका उद्देश्य भगवान से सीधा तादात्म्य स्थापित करना था।

इस इकाई में, सूफी की मुख्य विशेषताओं, इस्लामी देशों में इसके उदय और भारत में इसके प्रसार पर विचार-विमर्श करेंगे। इस इकाई में आप भारत में लोकप्रिय विभिन्न सूफी संप्रदायों की चर्चा करेंगे। इसके साथ ही हम समकालीन भारतीय समाज पर सूफी आंदोलन के प्रभाव का विश्लेषण भी करेंगे।

4.4.3. सूफी मत की विशेषताएँ

आरंभ में भारत और उसके बाहर कई सूफी मत या सिलसिले विकसित हुए। प्रत्येक मत की अपनी-अपनी खास विशेषताएँ थीं, पर सभी सूफी मतों में कुछ समान विशेषताएँ भी थीं। हम यहाँ इसी प्रकार की विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

1. सूफी मत का उदय इस्लामी देशों में हुआ। इसमें अलौकिक यथार्थ (हकीकत) से सीधा संपर्क स्थापित करने के लिए सूफी मार्ग (तरीका) पर चलने का महत्व बताया गया।
2. सूफी मत के अनुसार व्यक्ति को ईश्वर का अनुभव करने के लिए कई 'पड़ावों' या 'चरणों' (मकामात) और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का सामना करके (हल) गुजरना पड़ता है।
3. सूफी मार्ग को कोई भी व्यक्ति केवल आध्यात्मिक गुरु (शेख, पीर या मुर्शिद) के कड़े निरीक्षण में ही पार कर सकता है। शेख, पीर और मुर्शिद का दर्जा वही पा सकते हैं, जिन्होंने सफलतापूर्वक इस मार्ग को तय कर लिया हो और ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित कर लिया हो।
4. शिष्य (मुरीद) कई 'पड़ावों' या 'चरणों' से गुजरता है। वह ईश्वर में ध्यान लगाने और ध्यान केंद्रित करने (जिक्र) के लिए आत्म-संताप, ईश्वर का नाम बार-बार जपना इत्यादि आध्यात्मिक अभ्यासों से गुजरता है।
5. सूफी आवेग उत्पन्न करने वाले संगीत आयोजनों (समा) का सहारा लेते थे। इस 'समा' का उपयोग परमानंद की अनुभूति प्राप्त करने के लिए किया जाता था। कुछ सूफी मत कुछ खास किस्म के संगीत आयोजनों या 'समा' को मंजूरी नहीं देते थे। उलेमा इस प्रथा के बिल्कुल खिलाफ थे।

6. सूफी मत अनेक सिलसिलों में विभक्त था। सभी सिलसिले अपने संस्थापक के नामों पर आधारित थे, जैसे- सुहरावर्दी, कादिरी, चिश्ती आदि। एक सूफी गुरु और उसके शिष्यों को मिलकर एक सिलसिले का निर्माण होता था।
7. सूफी मत की गतिविधियों का केंद्र एक आश्रम (खानकाह) होता था। यहाँ पीर अपने शिष्यों को आध्यत्मिक शिक्षा दिया करता था। पीर की ख्याति और प्रतिष्ठा पर खानकाह की लोकप्रियता आधारित होती थी, जो पीर जितना ज्यादा प्रतिष्ठित होता था। उसके खांकग में शिष्यों की संख्या भी उतनी ही अधिक होती थी। इन खानकाहों को दान और वृत्ति मिला करती थी।

4.4.4. मुस्लिम देशों में सूफी आंदोलन का विकास

13वीं शताब्दी के आरंभ से भारत में सूफी सिलसिलों ने अपनी गतिविधियाँ शुरू की। पर इसके काफी पहले इस्लामिक प्रभाव के विभिन्न क्षेत्रों में सूफी मत एक सशक्त आंदोलन के रूप में फैल चुका था। भारतीय परिवेश में सूफी मत का एक खास स्वरूप उभरकर आया। पर अपने विकास के आरंभिक चरण में भारतीय सूफी मत इस्लामी दुनिया में विकसित सूफी मान्यताओं और प्रथाओं से प्रभावित हुआ। 7वीं से 13वीं शताब्दी के बीच इस्लामी देशों में सूफी मान्यताओं और प्रथाओं का विकास हुआ था। इस काल में इस्लामी देशों में विकसित सूफी मत को तीन प्रमुख चरणों में विभक्त किया जा सकता है।

4.4.4.1. आरंभिक चरण (10वीं शताब्दी तक)

आरंभिक दौर में सूफियों ने कुरान की आयतों को रहस्यात्मक अर्थ देने की कोशिश की। कुरान में उल्लिखित सद्गुणों, जैसे- पश्चाताप (तौबा), पथेज, सन्यास, गरीबी, ईश्वर में विश्वास (तुवक्कुल) आदि की उन्होंने गूढ़ व्याख्या की। सूफी आंदोलन के आरंभिक केंद्रों में मक्का, मदीना, बसरा और कुफा प्रमुख हैं। आठवीं शताब्दी के सूफियों को 'मौनी' कहा गया, क्योंकि वे मौन रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे और जनता के बीच जाकर सूफी मत का प्रचार नहीं करते थे। वे शिक्षा की अपेक्षा मार्गदर्शन में अधिक विश्वास रखते थे। महिला सूफी राबिया (मृत्यु 801 ई.) के काल में बसरा में सूफी मत अपने चरमोत्कर्ष पर था।

ईरान, खुरासान, ट्रांसऑक्सियाना, मिस्त्र, सीरिया और बगदाद में भी इस काल में सूफी मत का विकास हुआ। ईरानी क्षेत्रों में सूफी मत पर ईरानी विचारों का प्रभाव पड़ा और इसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों तथा गैर परंपरावादी सिद्धांतों और मान्यताओं का समावेश हुआ। ईरान के आरंभिक सूफ्यिों में खुरासान के बयाजिद बिस्तमी (मृत्यु 874 ई.) का नाम प्रमुख है। अपने सूफी मत में उन्होंने न्यास और "सब कुछ ईश्वर में है" जैसे गूढ़ सिद्धांतों का समावेश कर एक नया रूप दिया। उसने सूफी मत में अहम दे दमन (फना) की अवधारणा का समावेश किया। बाद में सूफियों ने भी इस सिद्धांत को अपनाया।

अपने आरंभिक दौर में सूफी बगदाद में भी सक्रिय थे। बगदाद अब्बासी खलीफा, अल जुनैद की राजधानी थी। अल जुनैद (मृत्यु 910 ई.) को कट्टरपंथी इस्लामी वर्ग का समर्थन प्राप्त था। उसने सूफीमत को नियंत्रित और मर्यादित माना जाता था, अतः इस मत को मानने वाले लोग मर्यादित माने गए। अपने समकालीन और बाद के सूफियों पर जुनैद और बिस्तमी दोनों का अच्छा खासा प्रभाव था। इन दोनों द्वारा स्थापित मत एक दूसरे से काफी भिन्न थे। इन्हें जुनैदी और बिस्तामी या ईराकी और खुरासानी के नाम से जाना जाता है।

बगदाद के आरंभिक सूफियों में मंसूर अल हल्लाज(मृत्यु 923 ई.) का नाम उल्लेखनीय है। पहले वह अल जुनैद का शिष्य था, पर बाद में उसने ब्याजिद बिस्तमी का मार्ग अपनाया। उनका रहस्यवादी कथन

"मैं ईश्वर हूँ" ने सूफी आंदोलन को एक नया आयाम दिया। इसने ईरान और भारत में सूफी विचारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उलेमा ने 'ईश्वर निंदक' कहकर उसकी आलोचना की और कहा कि ईश्वर से एकाकर होने का उसका दावा एक छल है। उसकी आलोचना की गई, बंदी बनाया गया और अंततः फांसी पर चढ़ा दिया गया। उसके सिद्धांतों के आधार पर ही'इसन-ए-कामिल' (पूर्ण व्यक्ति) की अवधारणा विकसित हुई।

आरंभ में विभिन्न सूफी मत बहुल संगठित नहीं थे और वे एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे। ये लोग छोटे-छोटे समूहों में किसी समर्थ गुरु में भटकते रहते थे। अरब क्षेत्र में ये घुमक्कड़ सूफी रिबात या सीमांत आश्रय स्थलों से जुड़े होते थे। ईरानी क्षेत्र में ये आश्रमों (खनाकहों) से जुड़े होते थे। महिला सूफियों के आश्रय स्थल अलग होते थे।

4.4.4.2. संगठित सूफी आंदोलन का विकास(10वीं–12वीं शताब्दी)

10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 11वीं शताब्दी के दौरान जब मध्य एशिया और ईरान में पहले गजनवियों और बाद में सेलजुको के अधीन तुर्की शासन कायम हुआ तब सूफी मत एक संगठित आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। इस काल के दौरान इस्लामी दुनिया में दो समानांतर संस्थाओं का विकास हुआ। (क) मदरसा व्यवस्था (धार्मिक शिक्षा का उच्च संस्थान) यह कट्टरपंथी इस्लामी शिक्षा की मान्य संस्था थी और (ख) सूफी गतिविधियों के संगठित और स्थायी केंद्र के रूप में खानकाह व्यवस्था का स्वरूप सामने आया।

खानकाह अब सूफियों की व्यक्तिगत गतिविधि का केंद्र न रहकर सूफी शिक्षा के संस्थागत केंद्र के रूप में उभर कर सामने आई। पर गुरु और शिष्य का संबंध अभीभी व्यक्तिगत था और इसने अब तक रहस्यमय और आनुष्ठानिक स्वरूप अख्तियार नहीं किया था। अभी सूफी संप्रदाय सही ढंग से आकार नहीं ग्रहण कर सका था। पर खानकाहों का स्वरूप बदल चुका था। अब ये सूफियों के आश्रय स्थल मात्र न थे, बल्कि सूफी मत और मान्यताओं के सुस्थापित केंद्र थे। इसमें एक आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्यों के साथ रहा करता था।

उलेमा सूफी मत को हमेंशा संदेह की नजर से देखते थे। उन्हें खासकर समा जैसी और परंपरावादी प्रथाओं से सख्त नफरत थी। कट्टरपंथी इस्लामी शिक्षा प्राप्त कुछ सूफियों ने उलेमा और सूफियों के बीच एक प्रकार का संतुलन स्थापित करने की कोशिश की। अबू हमीद अलगजाली (1058-1111 ई.) इस प्रकार के सूफियों में सर्वप्रमुख था। आरंभ में वह आलिम (धर्म प्रवक्ता) था, पर बाद में उसने सूफी की जिंदगी बसर की। उसने सूफी मत में बाह्य इस्लामी कानूनों का और औपचारिक सिद्धांतों का पालन करने पर जोर दिया। पर इस्लाम में कट्टरपंथी और सूफी मत की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग रास्तों पर ही विकसित हुई।

इस दौर में सूफी साहित्यिक ग्रंथ रचे गए। इनमें सूफी विचारों और सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया गया। अल-गजाली सर्वप्रमुख सूफी लेखक था। अल हुजविरी (मृत्यु 1088) ने कश्फ-उल महजूब की रचना की। इसे सूफी मत का प्रामाणिक और मान्य ग्रंथ माना जाता है।

इस काल में सूफी मत की एक अन्य विशेषता फारसी में लिखित कविताओं का विकास था। अरबी रहस्यात्मक साहित्य गद्यात्मक था और फारसी साहित्य पद्यात्मक। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के दौरान फारसी भाषा ने लिखित वर्णनात्मक कविताएँ (मसनवी) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। फरीदुद्दीन अत्तार (मृत्यु 1220) और जलालुदीन रूमी (मृत्यु 1273) इस के प्रमुख प्रतिपादक थे।

4.4.4.3. सूफी संप्रदायों या सिलसिलों की स्थापना (12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 13वीं शताब्दी)

1) भारतीय सामाजिक और धार्मिक जीवन को सूफी मत ने व्यापक रुप में प्रभावित किया। पर भारत में इसके प्रभावी होने के कई दशक पूर्व मुस्लिम देशों में सूफी आंदोलन एक संगठित रूप ले चुका था और कई सूफी संप्रदाय कायम हो चुके थे। 12वीं शताब्दी से ये संप्रदाय आकार ग्रहण करने में लगे थे। अधिकांश केंद्रों का विकास एक विशेष के नेतृत्व में हुआ। आध्यात्मिक गुरु-शिष्य परंपरा की शुरुआत भी हुई। इनका अलग तरीका था, इनकी प्रथाएँ और अनुष्ठान अलग-अलग थे। इस प्रकार विभिन्न सूफी संप्रदाय (सिलसिला) कायम हुए। इसमें एक के बाद दूसरा गुरु आध्यात्मिक शिक्षा का पालन करते हुए अपने को उससे जोड़कर रखता था।

2) सिलसिले के आध्यात्मिक प्रधान और उसके शिष्यों के संबंध ने अब एक आनुष्ठानिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब शिष्य को सिलसिले में शामिल होने के लिए कई प्रकार के अनुष्ठानों से गुजरना पड़ता था और निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। खानकाह में शिष्यों के दैनिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए प्रत्येक सिलसिले के अपने अलग-अलग संस्थागत नियम थे। आध्यात्मिक गुरु (मुर्शीद) को अब ईश्वर का प्रतिनिधि (बली) के रूप में देखा जाने लगा। मुरीद (शिष्य) को अपने मुर्शीद के समक्ष पूर्ण समर्पण करना होता था। इसके बदले में मुर्शीद अपने मुरीद को तरीका, इसका गुप्त बिर्द (समर्पण के लिए एक शब्द), नियम और प्रतीकों की दीक्षा देता था।

3) कई सिलसिलों के संस्थापकों ने इस्लामी कानून और इस्लाम के अनुष्ठानों को अपना लिया। कई सिलसिलों के संस्थापकों पेशेवर काजी थे, इससे भी सिलसिला संस्थापक और कट्टरपंथी इस्लाम के संबंध का पता चलता है। पर उन्होंने कट्टरपंथी इस्लामी अनुष्ठानों को एक रहस्यात्मक आवरण दे दिया और नए प्रयोग किए। उन्होंने कई धार्मिक प्रथाएँ लागू की, जो कट्टरपंथी इस्लामी दृष्टिकोण से मेंल नहीं खाती थी। हालाँकि सिलसिला के संस्थापकों ने इस्लामी कानून के पालन पर विशेष जोर दिया, पर कई सिलसिलों में गैर परंपरावादी मान्यताएँ और प्रथाएँ स्थापित हुई।

4) ईरान, मध्य एशिया और बगदाद में सक्रिय लोकप्रिय सिलसिलों के नाम नीचे दिए जा रहे है। इन्होंने इस्लामी दुनिया में सूफी मत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। शेख शाहाबुद्दीन सुहरावर्दी (मृत्यु 1234 ई.) द्वारा स्थापित सुहरावर्दी, शेख अब्दुल कादिर जिलानी (मृत्यु 1166 ई.) द्वारा स्थापित कादिरी, मुइनुद्दीन चिश्ती (मृत्यु 1236 ई.) द्वारा स्थापित चिश्ती और बहाउद्दीन नक्शबंदी (मृत्यु 1398 ई.) द्वारा स्थापित नक्शबंदी (पहले इसे ख्वाजगान के नाम से जाना जाता था) प्रमुख सिलसिले थे। इन सिलसिलों में दीक्षित सूफी अपने-अपने देश या देशों (जैसे भारत) में उनकी शाखाएँ स्थापित करने लगे। शनै: शनै ये शाखाएँ अलग और स्वतंत्र सूफी मत के रूप में विकसित हुई और इनकी विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ भी अलग हो गई।

5) इस्लामी देशों (ईरान, खुरासान और ट्रांसआकसियाना) और भारत आदि देशों में सूफी मत इन तीन चरणों से गुजरने के क्रम में ईसाई मत, नवप्लेटोवाद, बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के संपर्क में आया और इन धर्मों की प्रवृत्तियों और दर्शनों को आत्मसात किया। पर इस आंदोलन का ढाँचा इस्लाम से ही प्रेरित रहा।

4.4.5. भारत में सूफी मत का विकास

भारत आकर बसने वाले आरंभिक सूफियों में हुजविरि (लगभग 1088 ई.) सर्वप्रमुख है। पहले भी इस बात की चर्चा की थी कि उसने कशफ-उल महजूब नामक एक ग्रंथ लिखा था। फारसी में लिखा

यह ग्रंथ सूफी मत पर लिखा एक मानक दस्तावेज़ है। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद भारत में कई सूफी संप्रदायों की स्थापना हुई। सूफी मत के प्रचार प्रसार के लिए भारत एक अनुकूल जगह सिद्ध हुई। यह सूफियों के लिए शरण स्थल भी बना। तेरहवीं शताब्दी में इस्लामी दुनिया पर मंगोलों के आधिपत्य के बाद सूफियों को वहाँ से भागना पड़ा। भागकर वे सीधे भारत आए। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान भारत में जगह-जगह खानकाह स्थापित हो गए। इन सूफियों ने भारत में इस्लामी दुनिया के कई संप्रदाय स्थापित किए अपनी संस्था विकसित की और जहाँ इनका प्रभाव जमा वहाँ वे स्थापित हो गए। 14वीं शताब्दी के मध्य तक मुल्तान से लेकर बंगाल तक और पंजाब से लेकर देवगिरि तक समूचे देश में वे सक्रिय हो गए। आरंभिक 13वीं शताब्दी के एक यात्री के अनुसार दिल्ली और इसके आसपास दो हजार आश्रय स्थान और खानकाह स्थापित थे।

मूल रूप से भारत में स्थापित सूफी मत का आधार इस्लामी दुनिया, खासकर ईरान और मध्य एशिया में स्थापित सूफी सिद्धांत और मान्यताएँ थी। पर भारत में स्थापित होने के बाद इसके विकास में सूफी मत के अभारतीय तत्वों की अपेक्षा भारतीय परिवेश की ज्यादा भूमिका थी। एक बार में जड़ जमा लेने के बाद उनका अलग ढंग से विकास हुआ, अवनति हुई और उत्थान हुआ। हालांकि भारतीय सूफी मत पर बाहरी सूफीमत के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है, पर यह भारतीय परिवेश में ही बढ़ा और फला-फुला।

4.4.6. भारत में सल्तनत काल के सूफी सिलसिले

भारत में सल्तनत काल के दौरान कई सिलसिले लोकप्रिय हुए। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख सिलसिले की चर्चा करेंगे।

4.4.6.1. सुहरावर्दी सिलसिला

सूफी संप्रदाय में सुहरावर्दी सिलसिला सल्तनत काल का प्रधान संप्रदाय था। भारत में इसके संस्थापक शेख बहाउद्दीन जकरिया (1182-1262 ई.) थे। वह एक खुरासनी थे और शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य थे, जिन्होंने बगदाद में इस सिलसिला की शुरुआत की थी। शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के आदेश से शेख बहाउद्दीन जकरिया भारत आए। मुल्तान और सिंध को उन्होंने अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। अतः उन्होंने मुल्तान में जिस खानकाह की स्थापना की, उसकी गिनती भारत में स्थापित आरंभिक खानकाहों में होती है। उस समय दिल्ली का सुल्तान इल्तुतमिश था, पर मुल्तान पर उसके दुश्मन कुबाचा का आधिपत्य था। शेख बहाउद्दीन जकरिया खुलेआम कुबाचा के प्रशासन की आलोचना किया करता था। इल्तुतमिश तथा मुल्तान के शासक कुबाचा के बीच हुए संघर्ष में शेख ने खुले आम इल्तुतमिश का पक्ष लिया। कुबाचा के पतन के बाद इल्तुतमिश ने बहाउद्दीन जकरिया को शेख-उल इस्लाम (इस्लाम का प्रमुख) विद्वान का खिताब प्रदान किया और अनुदान की व्यवस्था की। समकालीन चिश्ती संतों के विपरीत उन्होंने व्यावहारिक नीति अपनाई और काफी संपति इकट्ठी की। उन्होंने राज्य का संरक्षण स्वीकार किया और शासक वर्ग से अपना संबंध बनाए रखा। बाद में इस संप्रदाय से कई स्वतंत्र शाखाओं का जन्म हुआ। इनमें से कुछ को 'बेशर' (अवैध संप्रदाय) भी कहा जाता था।

शेख शहाबुदीन सुहरावर्दी ने शेख बहाउद्दीन जकरिया के अलावा कई अन्य खलीफाओं (प्रमुख शिष्य) को सुहरावर्दी के सिलसिला में प्रचार-प्रसार के लिए भारत भेजा। शेख जलालुदीन तबरीजी उन्हीं में से एक थे। दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने में वह असफल रहे और बंगाल चले गए। वहाँ उन्होंने अपनी

खानकाह स्थापित की और कई शिष्य बनाए। उन्होंने अपने खानकाह में लंगर (मुफ्त भोजन) की भी व्यवस्था की। यह कहा जाता है कि बंगाल में इस्लामीकरण की प्रक्रिया में उन्होंने भूमिका निभाई।

सल्तनत काल में पंजाब, सिंध और बंगाल सुहरावर्दी गतिविधि के तीन प्रमुख केंद्र थे। विद्वानों की आम राय है कि सुहरावर्दी सूफियों ने हिंदुओं को इस्लाम धर्म अपनाने को प्रेरित किया और इसमें उन्हें शासक वर्ग की सहायता मिली। इस दृष्टि से सुहरावर्दी और चिश्ती सूफियों में जमीन-आसमान का फर्क था, चिश्ती सूफियों ने अपनी शिक्षा के माध्यम से धर्म परिवर्तन करना अपना लक्ष्य नहीं बनाया।

4.4.6.2. चिश्ती सिलसिला

सल्तनत काल में चिश्ती संप्रदाय का विकास दो चरणों में संपन्न हुआ। 1356 ई. में शेख नसीरुद्दीन (चिराग-ए दिल्ली) की मृत्यु के बाद प्रथम चरण समाप्त हुआ। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसकी अवनति हुई। दूसरे चरण की शुरुआत 15वीं-16वीं शताब्दी में पूरे देश में इसके पुनरुत्थान और प्रसार से हुई।

पहला दौर

भारत में स्थित सूफी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय सबसे लोकप्रिय था। इसका प्रारंभ हिरात में हुआ था। सीजिस्तान में जन्मे (लगभग 1141 ई.) ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने भारत में इस संप्रदाय की स्थापना की (मृत्यु 1236 ई.)। वे गोरी के आक्रमण के समय भारत आए। 1206 ई., में अंतिम रूप से वे अजमेर में बस गए और उन्हें मुसलमानों और गैर-मुसलमानों सभी का आदर प्राप्त हुआ। उनके कार्यकाल का कोई प्रामाणिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। बाद में, कई दंतकथाओं में उन्हें इस्लाम धर्म के उत्साही प्रचारक के रूप में दर्शाया गया। पर असलियत यह है कि उन्होंने धर्म परिवर्तन में कभी सक्रिय हिस्सा नहीं लिया और गैर-मुस्लिमों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारवादी था।

आने वाली शताब्दियों में अजमेर स्थित उनका मजार प्रमुख तीर्थस्थल बन गया। दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी (मृत्यु 1236) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के शिष्य थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के एक दूसरे खलीफा शेख हमीदुद्दीन नागौरी (मृत्यु 1274) ने राजस्थान में नागौर को अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। शेख हमीदुद्दीन नागौरी ने नागौर में एक सिलसिला स्थापित किया और वहाँ एक साधारण राजस्थानी किसान की तरह रहने लगे। उन्होंने शासन से जुड़े लोगों के साथ संबंध नहीं रखा। वह शुद्ध रूप से शाकाहारी थे। उन्होंने और उनके उतराधिकारियों ने फारसी में लिखे पदों को स्थानीय भाषा हिंदवी में अनूदित किया, इस प्रकार का अनुवाद अभी तक हिंदुस्तान में नहीं हुआ था।

दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी का खलीफा ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद (1175-1265) उनका उत्तराधिकारी बना। वह गंजशकर या बाबा फरीद के नाम से ज्यादा जाने जाते थे। बाबा फरीद दिल्ली छोड़कर पंजाब में अजोधन चले गए और वहाँ खानकाह में रहने लगे। उन्होंने शासक और अमीर वर्ग से कोई संबंध नहीं रखा। नाथपंथी योगी उनकी खानकाह में आकर रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस किया करते थे। पंजाब में उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी मृत्यु के 300 वर्ष बाद भी उनके पदों को 1604 ई. में गुरु अर्जुन सिंह ने आदि ग्रंथ में संकलित किया। पाकपाटन स्थित उनका मजार भी एक तीर्थस्थल बन गया।

बाबा फरीद के ख्यातिलब्ध और 14वीं शताब्दी के प्रमुख संत शेख निजामुद्दीन औलिया(1236-1325) को कौन नहीं जनता है। उन्होंने दिल्ली को चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बनाया। उनके समकालीन दो इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी और अमीर खुसरो ने 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 14वीं शताब्दी के

पूर्वार्ध में उत्तर भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में उनके महत्व को रेखांकित किया। बाद में उनके उत्तराधिकारियों ने देश में विभिन्न भागों में चिश्ती संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। अमीर हसन सिज्जी लिखित फवायद-उल फुवाद में उनकी शिक्षा और वार्तालाप (मलफूजात) संकलित है। इसमें दार्शनिक और रहस्यात्मक बातों का समावेश नहीं है, बल्कि इसमें सूफी मत के व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख किया गया है।

शेख निजामुद्दीन औलिया के जीवन-काल में एक के बाद एक सात शासक दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर बैठे। पर उन्होंने हमेंशा शासकों और अमीरों से दूर रहने की कोशिश की और कभी किसी शासक के दरबार में पैर नहीं रखा। उनकी खानकाह के लंगर (मुफ्त भोजन व्यवस्था) का द्वार हिंदुओं और मुसलमानों के लिए समान रूप से खुला रहता था। अपनी खानकाह में वे अनेक नाथपंथी योगियों से शास्त्रार्थ और वार्तालाप करते थे। योग के कई अभ्यासों पर उनकी पकड़ थी और योगी उन्हें सिद्ध (संपूर्ण) कहा करते थे। अमीर खुसरो (1253-1325) शेख निजामुद्दीन औलिया का परम शिष्य था।

शेख निजामुद्दीन औलिया के कई आध्यात्मिक शिष्य या खलीफा हुए। शेख बुरहानुद्दीन गरीब (मृत्यु 1340 ई.) उनमें से एक था। मुहम्मद तुगलक ने उन्हें दक्कन जाने को मजबूर किया। उन्होंने दौलताबाद को अपना केंद्र बनाया और वहाँ चिश्ती संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

दिल्ली में शेख नसीरुद्दीन महमूद (मृत्यु 1356 ई.) शेख निजामुद्दीन औलिया के प्रमुख खलीफा और उत्तराधिकारी थे। उन्हें चिराग-ए दिल्ली (दिल्ली का दीप) के नाम से जाना जाता था। उन्होंने और उनके शिष्यों ने चिश्ती संप्रदाय की उन प्रथाओं को छोड़ दिया, जो कट्टरपंथी इस्लाम के साथ टकराती थी। दूसरी तरफ उन्होंने उलेमा से अनुरोध किया कि चिश्ती संप्रदाय की प्रमुख प्रथा समा के प्रति अपना कड़ा रुख नरम कर लें।

परवर्ती तुगलक और सैय्यद शासकों के समय चिश्ती संप्रदाय का पतन

कुछ विद्वानों का मानना है कि दिल्ली में चिश्ती संप्रदाय के पतन का कारण सुल्तान मुहम्मद तुगलक का रवैया और नीतियाँ थी। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत रूप में सुल्तान सूफियों का विरोधी नहीं था। सुल्तान ने सूफियों को राज्य की सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसके बावजूद कुछ सूफी, यहाँ तक की शेख नसीरुद्दीन 'चिराग-ए दिल्ली' भी पूरे समय दिल्ली में ही रहे। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी फिरोज़शाह तुगलक ने सूफियों को धार्मिक दान दिया और खानकाह फिर सक्रिय हो उठे। 1356 ई. में शेख नसीरुद्दीन की मृत्यु के बाद दिल्ली में कोई ख्याति प्राप्त चिश्ती हस्ती नहीं रह गई। अपने किसी धार्मिक उत्तराधिकारी की नियुक्ति किए बगैर उनकी मृत्यु हो गई। तैमुर के आक्रमण (1398 ई.) के समय उनका एक प्रमुख शिष्य गेसूदराज दिल्ली छोड़कर दक्कन जैसी सुरक्षित जगह चला गया। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद सूफी अपेक्षाकृत स्थायित्व प्राप्त राज्यों में फैलने लगे और वहीं अपने खानकाह स्थापित किए। 14वीं शताब्दी के उतरार्द्ध और 15वीं शताब्दी का चिश्ती संप्रदाय देश के विभिन्न भागों में फैल गया। इससे चिश्ती सूफियों के दृष्टिकोण और प्रथाओं में मूलभूत बदलाव आया।

दूसरा दौर

सल्तनत काल में शेख नसीरुद्दीन की मृत्यु के बाद चिश्ती सिलसिले का पतन आरंभ हुआ और दिल्ली से बिखरकर यह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यो में फैल गया। यहीं से चिश्ती सिलसिलों के इतिहास का दूसरा दौर शुरू होता है। 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही सूफी दक्कन की ओर जाने लगे थे, पर दक्कन

में चिश्ती संप्रदाय की नींव मुहम्मद तुगलक के शासन काल में शेख बुरहानुद्दीन गरीब ने डाली। बाद में कई सूफी चिश्ती बहमनी राज्य (1347-1538)की राजधानी गुलबर्गा जाकर बस गए। गुलबर्गा में इन सूफियों ने दरबार से अपना रिश्ता कायम किया और राज्य संरक्षण स्वीकार किया। इस प्रकार शासक वर्ग के प्रति चिश्ती संप्रदाय के रवैये में परिवर्तन आ गया। दूसरी तरफ बहमनी शासकों ने उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए भूमि अनुदान प्रदान किए। मुहम्मद बंदा नवाज (लगभग 1321-1422) इन चिश्तियों में प्रमुख थे। यह दक्कन चले गए और बहमनी सुल्तान फिरोजशाह बहमनी (1397-1422) से बतौर भू-अनुदान चार गाँव प्राप्त किए। यह कट्टरपंथी सूफी थे और उन्होंने सूफी मत की मान्यताओं की अपेक्षा इस्लामी कानून (शरीयत) को प्रमुखता दी। गेसूदराज ने चिश्तियों की उन सभी प्रथाओं को छोड़ दिया जो कट्टरपंथी उलेमा को नहीं भाती थी। अपने पूर्ववर्ती चिश्ती गुरुओं के विपरीत उन्होंने तसव्वुफ पर या सूफी चिंतन पर खूब लिखा। उनकी मृत्यु के बाद भी बहमनी सुल्तान उनके परिवार को भू-अनुदान देते रहे। गुलबर्गा स्थित उनकी दरगाह बाद में दक्कन का एक प्रमुख तीर्थ स्थल बन गया।

पर उनके बाद किसी ने चिश्ती संप्रदाय में रुचि नहीं दिखाई और उनके परिवारजन भूमिधर कुलीन वर्ग का जीवन व्यतीत करने लगे। इससे उस क्षेत्र में चिश्ती संप्रदाय का अंत हो गया। 1422 ई. में बहमनी राज्य की राजधानी गुलबर्गा से बदलकर बीदर हो गई। इस कारण भी गुलबर्गा में चिश्ती संप्रदाय का पतन हो गया। यह भी बताया गया है कि बीदर स्थित बहमनी दरबार में विदेशियों की ओर विशेष झुकाव था और उनका दृष्टिकोण दक्कन विरोधी था। इस कारण से विदेशी सूफियों को आकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया और चिश्तियों को अति भारतीय होने के कारण संरक्षण प्राप्त न हो सका। पर 15वीं शताब्दी के अंत से एक बार फिर चिश्ती संप्रदाय शक्ति अर्जित करने लगा और 16वीं-17वीं शताब्दी तक इसका विकास हुआ। आदिलशाही सुल्तानों की राजधानी बीजापुर शहर के ठीक बाहर शाहपुर की पहाड़ी पर इनका नया केंद्र स्थापित हुआ। शाहपुर पहाड़ी पर स्थापित चिश्ती संप्रदाय गुलबर्गा में स्थापित चिश्ती संप्रदाय से भिन्न था। इसने दरबार और उलेमा से दूरी बनाए रखी और स्थानीय तत्वों को अपना आधार बनाया। इस प्रकार शाहपुर के सूफी अपने दृष्टिकोण में दिल्ली स्थित आरंभिक चिश्तियों से काफी मिलते-जुलते थे। पर यह याद रखना चाहिए कि शाहपुर स्थित चिश्ती संप्रदाय दिल्ली और गुलबर्गा स्थित चिश्ती संप्रदाय से बिल्कुल अलग रहकर विकसित हुआ।

उत्तर भारत में 15वीं शताब्दी के उतरार्द्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चिश्ती संप्रदाय का पुनरुत्थान हुआ। चिश्ती संप्रदाय की तीन शाखाएँ उभर कर सामने आई, नागौरी (शेख हमीदुद्दीन नागौरी के नाम पर), साबिरी (शेख अलाउद्दीन कलियारी के नाम पर) और निजामी (शेख निजामुद्दीन औलिया के नाम पर)। शर्की सुल्तानों की राजधानी जौनपुर भी इस समय चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बना। 15वीं शताब्दी के आरंभ में लखनऊ के निकट रदौली में भी चिश्ती केंद्र स्थापित हुआ। लोदी काल में बहराइच (आधुनिक उत्तर प्रदेश में) भी चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बना। शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही(1456-1537 ई.) ने उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के गंगोह में एक प्रमुख केंद्र स्थापित किया। उन्होंने सूफी मत और मान्यताओं तथा आध्यात्मिक विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखीं। उन्होंने मौलाना दाउद की रोमानी हिंदवी में लिखित पुस्तक चंदायन का फारसी में अनुवाद भी किया। दूसरे दौर में बंगाल और मालवा में चिश्ती केंद्र स्थापित हुए। दूसरे दौर के कई सूफी संतों ने अरबी और फारसी के मानक ग्रंथों पर भाष्य लिखे और संस्कृत में रहस्यवाद पर लिखी पुस्तकों का अनुवाद फारसी में किया। दिल्ली के आरंभिक सूफियों की तरह बाद के चिश्ती सूफियों ने समाज के सभी तबके के लोगों को अपना शिष्य बनाया। पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चिश्तियों की मान्यताओं का ख्याल नहीं रखा और राज्य का संरक्षण स्वीकार किया।

4.4.6.3. अन्य सूफी सिलसिला

चिश्ती और सुहरावर्दी सिलसिलों के अलावा इस काल में भारत में फिरदौसी, कादिरी, शतारी, कालंदरी आदि सिलसिले भी स्थापित हुए। फिरदौसी सिलसिला की एक शाखा था। इसकी स्थापना 14वीं शताब्दी में बिहार में राजगीर में हुई थी। भारत में इस सिलसिला के सर्वप्रमुख सूफी शेख शरफुद्दीन याहा मनेरी (मृत्यु 1380 ई.) थे।

मध्यवर्ती इस्लामी देशों में कादिरी सर्वप्रमुख सूफी संप्रदाय था। इसकी स्थापना अब्दुल कादिर जिलानी (मृत्यु 1166 ई.) ने बगदाद में की थी। 14वीं शताब्दी में यह संप्रदाय भारत आया और पंजाब, सिंध तथा दक्कन को अपना केंद्र स्थल बनाया। कादिरी का दृष्टिकोण कट्टरपंथी था और इनका सिद्धांत कट्टरपंथी उलेमा से मेंल खाता था। कादिरी सूफियों के कई प्रांतीय राज्यों के शासक वर्ग से संबंध थे और उन्होंने राज्य की सहायता स्वीकार की। यह संप्रदाय शहर में केंद्रित था और इसका उदेश्य गैर इस्लामी प्रभावों से ग्रस्त भारतीय मुसलमानों की धार्मिक जिंदगी में सुधार लाना था।

15वीं शताब्दी में भारत में शेख अब्दुल्ला शतारी ने शतारी सिलसिला की स्थापना की। यह भी एक कट्टरपंथी संप्रदाय था। शतारी बंगाल, जौनपुर और दक्कन में केंद्रित थे। कादिरी के समान शतारी सूफियों के संबंध भी शासक वर्ग के साथ थे और उन्होंने भी राज्य-संरक्षण स्वीकार किया।
कलंदिर संप्रदाय में कई प्रकार के घुमंतू फकीर शामिल थे, जो सामान्य सामाजिक व्यवहारों का पालन नही करते थे। वे निंदनीय माने जाते थे और वे इस्लामी कानून को नहीं मानते थे। उनका कोई आध्यात्मिक गुरु या संगठन नहीं होता था। कई कलंदर चिश्ती खानकाहों में अक्सर जाया करते थे और इनमें कई चिश्ती संप्रदाय में शामिल भी हो गए। कलंदरो का संपर्क नाथपंथी योगियों के साथ भी था और उन्होंने उनकी कई मान्यतायों और प्रथाओं को अपना लिया। मसलन नाथपंथियों के समान वे भी अपना कान छिदवाने लगे।

15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में सूफी मत का ऋषि संप्रदाय स्थापित हुआ। इस संप्रदाय के उदय से पूर्व धर्म प्रचारक मीर सैय्यद हमादानी (1314-1385 ई.) इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए हमदान से अपने शिष्यों के साथ कश्मीर आए। हमदानी, उनके पुत्रों और शिष्यों के धार्मिक प्रचार का कश्मीर की जनता पर बहुत थोड़ा ही प्रभाव पड़ा। दूसरी तरफ शेख नुरूद्दीन वली (मृत्यु 1430 ई.) द्वारा स्थापित ऋषि संप्रदाय मूलतः स्वदेशी था। यह कश्मीर के ग्रामीण परिवेश में फला-फुला और इसने 15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान लोगों के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। ऋषि संप्रदाय की लोकप्रियता का यही कारण था। इसके अतिरिक्त इसने कश्मीर की लोकप्रिय शैव भक्ति परंपरा से भी प्रेरणा ग्रहण की। यह संप्रदाय क्षेत्र के सामाजिक सांस्कृतिक अंग-ढंग में आकंठ डूबा हुआ था।

4.4.7. चिश्ती सिलसिले की लोकप्रियता के कारण

सल्तनत काल के सभी सूफी संप्रदायों के उद्देश्य लगभग एक थे– आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में सूफी मार्ग अपनाते हुए ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित करना। हाँ, प्रत्येक सूफी संप्रदाय ने अलग-अलग अनुष्ठान और रीति-रिवाज अपनाए और राज्य तथा समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी अंतर था। इस काल के सभी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और इसका प्रसार भी

व्यापक क्षेत्र में हुआ। चिश्ती संप्रदाय के अनुष्ठान, दृष्टिकोण और प्रथाएँ भारतीय थी और यह मूलतः एक भारतीय सिलसिला था। इसकी लोकप्रियता के कारणों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :–

1) चिश्ती संप्रदाय की कई प्रथाएँ भारत में स्थापित नाथपंथी योगियों जैसे– गैर-परंपरावादी संप्रदायों से काफी मिलती-जुलती थी। ब्रह्मचारी और संन्यासी का जीवन व्यतीत करना, गुरु के समक्ष दंडवत करना, संप्रदाय में शामिल होने वाले नए शिष्य का मुंडन करना और भक्ति संगीत का आयोजन आदि कुछ ऐसी ही प्रथाएँ थी। इस दृष्टि से, चिश्तियों को भारतीय परंपरा के एक हिस्से के रूप में देखा जाने लगा।

2) चिश्तियों ने भारत में गैर-मुसलमान जनसंख्या के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया और अपने को भारतीय परिवेश में ढाल लिया। भारतीय अनुयायियों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए चिश्तियों ने भारतीय प्रतीकों, मुहावरों, रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों को अपना लिया। बहुत से चिश्ती संतों ने अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए हिंदवी भाषा का प्रयोग किया।

3) चिश्ती खानकाह के समतावादी परिवेश ने भारतीय समाज के निचले सदस्यों को काफी संख्या में आकृष्ट किया। चिश्ती संत समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते थे और इसने उनके धार्मिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। चिश्ती खानकाह ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था से काफी दूर थे। व्यापारी, शिल्पी, किसान और यहाँ तक कि सफाई करने वाला भी चिश्ती संप्रदाय का अनुयायी हो सकता था। उन्होंने तुर्की शासक वर्ग के प्रजातिगत विभाजन (कुलीन और अकुलीन) को भी स्वीकार नहीं किया।

4) चिश्ती गुरुओं ने उच्च भावना से युक्त प्रेरणादायक नेतृत्व प्रदान किया। दरबार से वे दूर रहे और राज्य संरक्षण को उन्होंने अस्वीकार कर दिया, उलेमा के कट्टरपंथी और बाहरी कर्मकांड संबंधी दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्ण रूप से नकार दिया और इस्लाम की सरल मान्यताओं को सूफी शिक्षा में घोल दिया। इन्हीं सब कारणों से चिश्ती संप्रदाय लोकप्रिय हुआ।

5) आरंभिक चिश्तियों को मरणोपरांत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। बाद की शताब्दियों में उनकी दरगाहों के आस-पास संतों के संप्रदाय बनने लगे। कालांतर में, दंतकथाओं और जीवन लेखन के माध्यम से इन चिश्तियों की जादुई शक्ति की बात फैलने लगी। यह भी कहा जाने लगा कि उनकी जादुई शक्ति के कारण ही काफी लोग उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्होंने गैर-मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन किया। आरंभिक चिश्ती संत चमत्कारी शक्ति में विश्वास रखते थे, पर उसके उपयोग को वे अस्वीकार करते थे। सूफी मत और मान्यता में वे चमत्कार को प्रमुख तत्व नहीं मानते थे। पर आरंभिक चिश्तियों की लोकप्रियता बढ़ाने में चमत्कार संबंधी कहानियों ने काफी सहयोग दिया और इससे उनके दरगाहों को भी ख्याति मिली।

4.4.8. सूफियों की सामाजिक भूमिका

सूफियों ने समाज में और कभी-कभी राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यहाँ हम विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान का विश्लेषण करेंगे।

4.4.8.1. सूफी और राज्य

आप पहले पढ़ चुके हैं कि आरंभिक चिश्ती सूफियों और बीजापुर राज के शाहपुर के चिश्तियों के अलावा अन्य सिलसिलों से जुड़े अधिकांश सूफियों ने, यहाँ तक कि बाद के चिश्तियों ने भी राज्य सहायता स्वीकार की और राज्य से जुड़े रहे। कई बार कई चिश्ती सूफी सुल्तान की नीतियों का विरोध भी करते थे। मुहम्मद तुगलक के शासन काल में ऐसा हुआ था। कुछ सूफी शासन तंत्र का हिस्सा बन गए।

आरंभिक चिश्तियों ने ऐसा नहीं किया पर उन्होंने विभिन्न वर्गों और धार्मिक समुदायों के बीच सौहार्द का वातावरण बनाया, जिससे राज्य के सुचारु रूप से संचालन को सहायता मिली।

चिश्ती गुरुओं सहित किसी भी सूफी ने स्थापित राजनीतिक व्यवस्था और वर्ग संरचना पर कभी भी प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया। उन्होंने राज्य के पदाधिकारियों से केवल यही कहा कि वे किसानों से राजस्व वसूलते समय नरमी बरतें। दूसरी तरफ उन्होंने अपने साधारण अनुयायियों को राज्य सहायता लेने और दरबार के मामलों में दखल देने से नहीं रोका। इसी कमी के कारण प्रगतिशील चिश्ती सिलसिले में भी बाद में राज्य संरक्षण और दरबारी राजनीतिक का प्रवेश हो गया।

4.4.8.2. सूफी और उलेमा

आपने गौर किया होगा कि उलेमा बराबर सूफियों को नकारते रहे। अल-गज्जाली ने उन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने की काफी कोशिश की पर नाकाम रहा। सल्तनत काल में उन दोनों के बीच अविश्वास का भाव बना रहा, पर सुहारावर्दी, कादिरी आदि जैसे सूफी संप्रदायों ने उलेमा का पक्ष लिया। उलेमा खासकर चिश्ती सूफियों और उनकी प्रथाओं के विरोधी थे। उन्होंने चिश्ती की समा प्रथा की आलोचना की और चिश्तियों द्वारा धार्मिक मेंल स्थापित करने के प्रयत्न पर आपत्ति की। शेख नसीरुद्दीन (चिराग-ए दिल्ली) और गेसूदराज जैसे चिश्ती सूफियों ने चिश्ती प्रथाओं के प्रति उलेमा के आक्रोश को कम करने के लिए चिश्ती संप्रदाय को कुछ कट्टरपंथी आयामों से युक्त किया। हमने पढ़ा कि चिश्ती दरबारी राजनीति में हिस्सा लेने लगे थे और दान स्वीकार करने लगे थे। उन्होंने उलेमा से मिलते-जुलते सैद्धांतिक दृष्टिकोण अपना लिए।

4.4.8.3. सूफी और धर्म परिवर्तन

सल्तनत काल में आए सूफियों को आमतौर पर भारत में इस्लाम के प्रणेता के रूप में देखा जाता है। उत्तर मध्यकाल के कई लेखों और हवालों में सूफियों को सक्रिय धर्म-संस्था (मिश्नरी) के रूप में वर्णित किया गया है। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती पर लिखी एक जीवनी में बताया गया है कि गैर-मुसलमानों को इस्लाम धर्म में परिवर्तन कराने में उन्होंने सक्रिय हिस्सा लिया था। इसी प्रकार 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्कन की ओर जाने वाले सूफियों के बारे में भी यही कहा गया कि वे इस्लाम के कट्टर प्रचारक थे और उन्होंने जिहाद (गैर-मुसलमानो के खिलाफ युद्ध) छेड़ रखा था। सुहरावर्दी सूफियों में से कई सक्रिय धर्म प्रचारक थे। 14वीं शताब्दी में मीर सैय्यद अली हमादानी धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन के उद्देश्य से कश्मीर आया था, पर उसे वहाँ सफलता नहीं मिली। पर इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि सभी सूफी इस धर्म परिवर्तन में सक्रीयता से हिस्सा लेते रहे। उसने और उसके उतराधिकारियों ने गैर-मुसलमानों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया। शेख निजामुद्दीन औलिया ने एक अवसर पर गौर किया कि कई हिंदू इस्लाम को सच्चा धर्म मानते थे पर उसे ग्रहण नहीं करते थे। उसका यह भी मानना था कि प्रत्येक धर्म की अपनी पूजा-पद्धति, विधि और विश्वास है। आरंभिक सूफियों के संबंध में इस बात के काफी कम प्रमाण मिलते हैं कि उन्होंने दक्कन में धर्म-युद्ध छेड़ रखा था। हाँ, यह सही है कि गैर-मुसलमान धर्म की छोटी जातियों के लोग सूफियों और उनकी दरगाहों की ओर आकृष्ट हुए और उनके भक्तों में शामिल हो गए। धीरे-धीरे वे इस्लाम के प्रभाव में आए और उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस्लाम धर्म ग्रहण करने वालों के उत्तराधिकारियों ने बाद में यह दावा किया कि उनके पूर्वजों को किसी खास मध्यकालीन सूफी ने इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया था। इसका एक ही मकसद था– वे नए धर्मानुयायी सूफियों, उनकी दरगाह से तथा इस्लाम से अपने लंबे संबंध को सिद्ध करना चाहते थे।

4.4.8.4. खानकाहों में भौतिक जीवन

इस समय कई सूफी खानकाह काफी समृद्ध थे, उन्हें राजकीय सहायता मिलती थी, राज्यों के साथ सूफियों के संबंध थे और कई सूफी भूमिपति भी बन गए। आदर्श तौर पर आरंभिक चिश्ती खानकाहों में रहते थे और ये दरबार और सामाजिक ऊँच-नीच के वातावरण से दूर समता के माहौल में रहा करते थे। आपने गौर किया होगा कि समग्र रूप में चिश्तियों ने स्थापित सामाजिक और राजनीतिक संरचना को स्वीकार किया। उनका और मानना था कि इसका कोई विकल्प नहीं है। इसके बावजूद उनके खानकाहों में इस सामाजिक संरचना और असमानता का प्रभाव नहीं पड़ा। खानकाह में रहने वाले अनुयायी और तीर्थयात्रा एक समतावादी परिवेश का अनुभव करते थे। ऐसे खानकाह अपने खर्च के लिए सरकारी संरक्षण पर नहीं, बल्कि फुतूह (नि:स्वार्थ दान) पर आश्रित थे।

चिश्ती खानकाहों का दरवाजा समाज के प्रत्येक सदस्य और समुदाय के लिए खुला था। कलंदर और जोगी अक्सर खानकाहों में टिका करते थे। खानकाहों ने अनेक तरीके से आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया। कुछ खानकाह बंजर भूमि पर खेती करते थे, कुछ धार्मिक इमारतें बनवाते थे, बाग-बगीचे लगवाते थे। खानकाहों ने शहरीकरण की प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वार्षिक उर्स (आध्यात्मिक गुरु की मृत्यु के दिन आयोजित समारोह) के आयोजन से व्यापार, वाणिज्य और स्थानीय हस्तशिल्प के उत्पादन को बल मिला।

4.4.9. भारतीय सूफी मत पर समकालीन मुस्लिम देशों के रहस्यवादी विचारों का प्रभाव

भारत में सूफी आंदोलन के विकास और प्रसार में भारतीय परिवेश का प्रभाव काम कर रहा था, पर इसके साथ-साथ इस्लामी दुनिया में सूफी मत में हो रहे परिवर्तन से भी यह अछूता नहीं था। विभिन्न सिलसिलों का प्रतिनिधित्व करने वाले सूफियों की कई पीढ़ियों को अलगजाली जैसे सूफी सिद्धांतों की मान्यताएँ प्रभावित करती रहीं। फैदुद्दीन अतार (मृत्यु 1220 ई.) और जलालूद्दीन रूमी (मृत्यु 1273 ई.) जैसे फारसी सूफियों के विचारों और काव्य प्रतीकों से सल्तनत काल के भारतीय सूफी प्रभावित थे। यह भी माना जाता है कि इस काल के सूफियों पर स्पेन में जन्मे सूफी इब्न अरबी (मृत्यु 1240 ई.) का भी प्रभाव था। उसने वहदत अल वजूद (लौकिक और अलौकिक संसार की एकता) का सिद्धांत सामने रखा, जिसका उलेमा ने विरोध किया। पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि चिश्तियों समेंत अधिकांश सूफी वहदत अल-वजूद जैसे सिद्धांत को खास महत्व नहीं देते थे। उनके अनुसार सूफी मत किसी सिद्धांत का नाम नहीं था, बल्कि सूफी मार्ग को सफलतापूर्वक पार करने का एक व्यावहारिक प्रयास था।

अलाउद्दीन (1261-1361 ई.) एक ईरानी था, उसने इब्न अरबी के सिद्धांत का विरोध किया था। उसने भी भारतीय सूफियों को प्रभावित किया। गेसूदराज सिमानानी के कट्टरपंथी विचारों से प्रभावित था और इसने इब्न अरबी और जलालुद्दीन रूमी के विचारों का खंडन किया।

4.4.10. सूफी और शक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय

इकाई–3 में हमने एकेश्वरवादी भक्ति आंदोलन पर इस्लाम और सूफी मत की चर्चा की है। दोनों के बीच कुछ समानताएँ ऐसी है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। इन समानताओं में उल्लेखनीय है, एकेश्वरवाद पर जोर, आध्यात्मिक गुरु (पीर या गुरु) की भूमिका, ईश्वर की रहस्यात्मक अनुभूति। इसके अलावा कई सूफियों और भक्ति संतों ने हिंदू और इस्लाम धर्म के कट्टर और रूढ़िवादी तत्वों पर प्रहार किया। कश्मीर में स्थापित ऋषि संप्रदाय सूफी मत पर भक्ति

आंदोलन के प्रभाव का प्रामाणिक उदाहरण है। यहाँ इस संप्रदाय के संस्थापक शेख नूरूद्दीन वली पर 14वीं शताब्दी की महिला भक्तन लल दय्द का गहरा असर था।

सल्तनत काल के दौरान सूफियों और नाथपंथियों के बीच भी संबंध था। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में समाज के निचले तबके के बीच नाथपंथियों का आंदोलन बेहद लोकप्रिय हुआ। नाथपंथी योगी अक्सर चिश्ती शेखों के खानकाहों में पहुँच जाते थे और उनसे रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस करते थे। सूफियों के भारत आने से बहुत पहले संस्कृत में योग पर लिखे ग्रंथ अमृतकुंड का अनुवाद हो चुका था। इस योग का प्रभाव भी सूफियों पर पड़ा और उन्होंने कई प्रकार की योग-पद्धतियाँ अपना लीं। आरंभिक चिश्तियों ने नाथपंथी योगियों के कुछ नैतिक मूल्यों और उनकी सामूहिक जीवन पद्धति को सराहा। चिश्तियों के समान नाथपंथी योगियों ने भी बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी वर्गों के लिए दरवाजे खोल दिए। इन दोनों लोकप्रिय आंदोलन के कारण मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच आपसी समझ कायम करने में सहूलियत हुई।

चिश्ती संप्रदाय गैर-मुस्लिम परिवेश में भी लोकप्रिय हुआ, उसने अपने आपको उस परिवेश के अनुकूल ढाल लिया। इससे भारतीय परिवेश में एक समन्वयवादी धारा प्रवाहित होने लगी और सांस्कृतिक मेंलजोल को बढ़ावा मिला। कई आरंभिक चिश्ती हिंदवी बोलते थे और इसमें अपने पद लिखा करते थे। खानकाहों ने क्षेत्रीय भाषा में रहस्यवादी कविताओं को प्रोत्साहित किया। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गई हिंदी की पुस्तक चंदायन में रहस्यवाद के साथ हिंदू मिथक और दर्शन भी घुला-मिला हुआ है। कालांतर में सूफियों द्धारा रचित लोक साहित्य में इस्लाम के हल्के-फुल्के विचार, सूफी शब्दावली, लोकप्रिय प्रतीकों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार खासकर ग्रामीण इलाकों में लोकप्रिय धर्म का विकास हुआ। चिश्ती संप्रदाय की प्रमुख प्रथा समा ने समन्वयवादी संगीत परंपरा की नींव रखी, जिससे कव्वाली जैसी विधा का विकास हुआ। अमीर खुसरो से कव्वाली की शुरुआत मानी जाती है।

4.4.11. सारांश

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व ही सूफियों का भारत में आगमन हो गया था। इस्लामी दुनिया के सूफी मत की आधारभूत विशेषताएँ भा रत के सूफी मत में कायम रहीं। इस्लामी दुनिया में यह 10वीं-12वीं शताब्दी के दौरान एक संगठित आंदोलन के रूप में उभरा। 12वीं-13वीं शताब्दी में कई सूफी मत या सिलसिले कायम हुए। इस्लामी दुनिया के समान दिल्ली सल्तनत के काल में भारत में अनेक सूफी मत लोकप्रिय हुए। इनमें सुहरावर्दी और चिश्ती संप्रदाय सर्व प्रमुख है। भारत में चिश्ती संप्रदाय का नाम सबसे ऊपर रखा जाता है।

विवेच्य काल के सामाजिक जीवन में सूफियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सभी सूफी राजकीय मामलों से नहीं जुड़े पर कई मामलों में हम देखते हैं कि सूफी संतों ने राजकीय गतिविधि में हस्तक्षेप किया और राजकीय संरक्षण एवं दान भी कबूल किया। इस पूरे काल में सूफी और उलेमा के बीच अविश्वास का भाव बना रहा। उलेमा ने सूफियों की कई प्रथाओं को नामंज़ूर कर दिया।

खानकाह सूफियों और उनके शिष्यों की गतिविधि का केंद्र था। भारत का सूफी आंदोलन समकालीन इस्लामी दुनिया में रहस्यवादी विचारों में हो रहे बदलाव से प्रभावित होता रहा। भारत में सुफों

सुर भक्ति आंदोलन के बीच लगातार आदान-प्रदान होता रहा। इस आदान-प्रदान का सल्तनत काल के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस आदान-प्रदान से कला, संगीत और साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक मेंल मिलाप को भी बल मिला।

4.4.12. शब्दावली

दरगाह : सूफी मजार/कब्र।
फुतूह : सम्मानपूर्वक आमदनी।
खानकाह : सूफी संतों के रहने की जगह।
मलफूजात : सूफी साहित्य।
कलंदर : मुसलमान भिक्षुक, जो सब कुछ त्याग कर घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते थे।
रिबात : सीमांत पड़ाव।
समा : सामूहिक संगीत गान।

4.4.13. बोध प्रश्न

1. सूफी विचारधारा एवं इनके सिलसिला से आप क्या समझते हैं? व्याख्या करें।
2. सूफी मान्यता में पीर और मुरीद की अवधारणा क्या है?
3. सूफी संप्रदाय में सुहरावर्दी सिलसिला की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।
4. चिश्ती सिलसिला के मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।
5. भारत में चिश्ती संप्रदाय की लोकप्रियता के क्या कारण थे?
6. सूफी मत और भक्ति आंदोलन के बीच के आदान-प्रदान पर प्रकाश डालें।

4.4.14. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हबीबुल्ला, ए.बी. एम.: 1992 : भारत में मुस्लिम राज्य की बुनियाद, इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिग हाउस।
2. अल्बेरूनी, अबू रेहान : 1910 : किताबुल हिंद, अनु.ई. साचाउ : लंदन।
3. चंद्र, सतीश : 1998, मध्यकालीन भारत, सल्तनत से मुगल काल तक, नई दिल्ली : जवाहर पब्लिशर एंड
डिस्ट्रीब्यूटर।
4. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली।
5. हरवंश मुखिया, मध्यकालीन भारत।